विश्व-संस्कृति का विकास

लेखक
कालिदास कपूर

परिचायक
श्रीसम्पूर्णानन्द

प्रथम बार
१०००

मार्च, १९४५

मूल्य १)

अध्याय-सूची

क्रम संख्या | पृष्ठ

मुद्रक
वर्द्धमान-प्रेस, अमीनुद्दौला-पार्क
लखनऊ.

परिचय

संस्कृति का इतिहास मानव इतिहास का रोचक और शिक्षाप्रद अंग ही नहीं है, प्रत्युत मनुष्य के इतिवृत्त का दृढ़ सूत्र भी है। राज्य बनते-बिगड़ते रहते हैं, सभ्यता के ऊपरी रूपों में परिवर्तन होता रहता है, परन्तु संस्कृति की अविच्छिन्न धारा प्राचीन काल से आज तक निर्बाध चली आ रही है। बीच-बीच में उस पर पर्दा पड़ता रहा है, परन्तु दीपक बुझा नहीं। एक देश में उसका तिरोभाव हुआ तो दूसरे देश में पहिले से और ऊँचे स्तर पर उदय हुआ। हम राष्ट्रों के संघर्षों की कथा तो पढ़ते रहते हैं, पर यह बात हमारे सामने प्रायः नहीं आती कि सहस्र-सहस्र भेदभावों के होते हुए भी मनुष्य एक ही परिवार के कुटुम्बी हैं और एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। संस्कृति का इतिहास इस कमी को पूरा करता है।

संस्कृति का विकास ज्यामिति की सरल रेखा नहीं है। सैकड़ों वर्षों की प्रगति के बाद देशों और महाद्वीपों पर अन्धकार-सा छा जाता है; सारी बौद्धिक उन्नति उड़ जाती है; अश्रद्धा, निरुत्साह, अन्धविश्वास प्रगति के सोते को बन्द-सा कर देते हैं। परन्तु यह सब होते हुए भी संस्कृति का प्रदीप बुझता नहीं। वह किसी न किसी कोने में टिमटिमाता रहता है और अनुकूल परिस्थिति आने पर फिर उद्दीप्त हो उठता है। एक युग और देश का सांस्कृतिक भंडार सैकड़ों वर्षों के बाद दूसरे युग और देश के मनुष्यों का पथ-प्रदर्शक होता है। जातियाँ गिरती हैं परन्तु मनुष्य सतत उठता है; जाति और देश पीछे हटते हैं परन्तु मनुष्य सतत आगे बढ़ता है।

आज भी मनुष्य-जाति का पूरा सांस्कृतिक इतिहास हमारे पास नहीं है। दुर्भाग्य की बात यह है कि जो कुछ सामग्री प्राप्य है वह भी हिन्दी पढ़नेवालों के लिये सुलभ नहीं है। इसके साथ ही यह भी सत्य है कि इस बात को जाने बिना कि पिछले आठ-दस हजार वर्षों में किन-किन देशों ने और किस-किस प्रकार से मनुष्य की सभ्यता और संस्कृति को आगे बढ़ाया

है और इनमें परस्पर में कैसे सांस्कृतिक विनिमय हुआ, न तो हम अपने देश की संस्कृति को ठीक-ठीक समझ सकते हैं और न विदेशों की संस्कृति को सहानुभूति के साथ अपने विचार का विषय बना सकते हैं। दर्शन, धर्म्म, वाङ्मय, कला—यह चाहे किसी देश में उत्पन्न हों, मनुष्य-मात्र की सम्पत्ति हैं और इनका प्रभाव सार्वभौम होता है।

आज-कल के संघर्ष-युग में इस ओर ध्यान देने की और भी आवश्यकता है। मनुष्य की अब तक की प्रगति हमको उस नवयुग की रूपरेखा का संकेत देती है जिसकी प्रतीक्षा हम सब कर रहे हैं, जिसमें मनुष्य सचमुच मनुष्य होगा और जीवन का सूत्र संघर्ष के स्थान में सहयोग होगा।

श्री कालिदास कपूर की यह रचना इस दृष्टि से आदरणीय है। पुस्तक छोटी है पर अपने विषय का अच्छा दिग्दर्शन कराती है। हम भारतीयों, विशेषतः हिन्दुओं का यह विश्वास है कि हम संस्कृति के आदि प्रतिष्ठापक हैं और हमें दूसरों से कुछ नहीं सीखना है। इस पुस्तक का पाठक इस बात का स्वतः निर्णय कर सकेगा कि यह धारणा कहाँ तक साधार है। हमारे अभिमान को कुछ धक्का लगेगा परन्तु मेरा विश्वास है कि हमारी सहानुभूति और विचारोदारता में जो वृद्धि होगी उसका मूल्य बहुत ज़्यादा है।

—सम्पूर्णानन्द

विश्व-संस्कृति का विकास

१. मानव-जीवन की पहली झलक

इस अखंड ब्रह्मांड में हम क्या हैं, जिस मानवता का हमें इतना घमंड है उसका ऐतिहासिक महत्व ही क्या है, इसका अनुमान लगाइए तो हमें अपनी लघुता का पता चलता है।

ब्रह्मांड अनंत है। आकाश में दिन के समय सूर्य और रात के समय चंद्रमा तथा असंख्य तारे हमें नित्य दर्शन दिया करते हैं। तारे छोटे अवश्य मालूम होते हैं, परंतु इनमें प्रायः सभी चंद्रमा से बड़े हैं। और बहुतेरे सूर्य से कहीं अधिक बड़े हैं। अधिक दूरी के कारण ही वे छोटे मालूम होते हैं। वह दूरी भी क्या—लाख की बात न कीजिए, करोड़ों मील से कम नहीं, कल्पना की पहुँच से भी दूर। यही नहीं, जितनी भी शक्तिशाली दुरबीन से आप देखिए, उतने ही और तारे दिखाई देने लगते हैं। ब्रह्मांड का अंत कहीं नहीं दिखाई देता। इस अनंत ब्रह्मांड में अनंत तथा नियमानुकूल संचालन है। सब तारे स्वयं घूमते रहते हैं और किसी अन्य राशि के चारों ओर चक्कर लगाते रहते हैं। स्थिरता किसी में भी नहीं है। इस अनंत संचालन में कोई न कोई राशि हर वक्त बना बिगड़ा करती है।

कोई समय था जब सूर्य, पृथ्वी और उसके चारों ओर चक्कर लगाने वाले अन्य तारा गण एक थे। समय पाकर वे टूट कर अलग हो गये। पृथ्वी का जन्म हुआ। फिर कुछ समय बाद चंद्रमा भी पृथ्वी से टूट कर बना। उस समय न चंद्रमा शीतल था, न पृथ्वी स्थल-जलमय थी। दोनों आग के अंगारे थे।

समय पाकर दोनों ठंढे हुए—चंद्रमा पहले, पृथ्वी बाद को। इस ठंढे होने में लाखों बरस लगे। एक समय ऐसा आया, जब पृथ्वी में जल और स्थल दोनों अलग-अलग दिखाई पड़ने लगे। जल के साथ जीव का जन्म हुआ, पेड़ों और पौधों का जन्म हुआ। मनुष्य अथवा मनुष्य से मिलता-जुलता जीव पृथ्वी पर कैसे आया, इसका पता नहीं है। पुराणों में मनु-वैवस्वत की कथा है। बाइबिल में आदम और हौवा की वार्ता है। कब जन्म हुआ, इसका अनुमान ही लगाया जा सकता है। एक लाख वर्ष से कम की बात नहीं है।

मनुष्य के इस संसार में विकसित होने के पहले जड़ संसार में उन पेड़ों का जन्म हो चुका था, जो अब पृथ्वी में दबकर पत्थर का कोयला हो गये हैं। उस समय भारतभूमि का वह भाग स्थल रूप में था जिसे दक्षिण का पठार कहते हैं, परंतु हिमालय का जन्म नहीं हुआ था।

एशिया के धर्म-ग्रंथों में प्रलय का ज़िक्र आता है। उस समय अनंत जलराशि ही रह गई थी, स्थल लुप्त हो गया था। मालूम होता है, यह वही प्रलय था जिसने हिमालय को जन्म दिया। इस प्रलय की स्मृति मानव-जीवन की एक अंग बन गई और किसी न किसी रूप में एशिया के सब धर्म-ग्रंथों में इस प्रलय का उल्लेख है।

हज़ारों वर्ष तक मनुष्य अपना जीवन यों ही व्यतीत करता रहा। पाशविक जीवन से उसका कोई विशेष भेद न था। उसकी सभ्यता के विकास का हमें पता नहीं लगता। पुरातत्व के विशेषज्ञों ने कुछ जोड़-तोड़ लगाकर इस पूर्व-ऐतिहासिक विकास को कई विभागों में बाँटा है। इन विभागों के उल्लेख करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। कुछ मोटी मोटी बातें बताना ही काफ़ी होगा।

मनुष्य की पहली आवश्यकता भोजन है। दूसरी आवश्यकता जलवायु के परिवर्तन से अपनी रक्षा करना है। सर्दी से बचने के लिये वस्त्र की आवश्यकता पड़ती है। चैन से सोने के लिए घर ज़रूरी है।

विकास की पहली सीढ़ी पर मनुष्य और पशु की आवश्यकता में कोई भेद नहीं है। भोजन दोनों की पहली आवश्यकता है। तब थी, अब भी है। भेद केवल इतना ही है कि मनुष्य अपनी इंद्रियों की सहायता के लिए औज़ारों का आविष्कार करता रहा। पशु अपनी इंद्रियों से ही काम लेता रहा। वनराज की जो तब कैफ़ियत थी सो अब है। कच्चा गोश्त नाख़ून से फाड़ फाड़कर जिस प्रकार उसके पूर्वज खाते थे, उसी प्रकार वह भी खाता है। परंतु आदम और हौवा तथा मनु-वैवस्वत के वंशजों ने भद्दे पत्थर के औज़ारों से अपने भोजन का प्रबंध शुरू किया और अब उनके दस्तरख़ान का प्रबंध, बिजली, भाप और तेल की शक्ति से चलने वाले औज़ार किया करते हैं।

मानवीय सभ्यता के विकास की कहानी का प्रत्यक्ष रूप मनुष्य के बनाये हुए औज़ारों के विकास में है। सैकड़ों हज़ारों वर्ष तक यह विकास पत्थर के भद्दे औज़ारों के आगे नहीं बढ़ा। पत्थर के औज़ार बनाते-बनाते चिनगारियों के उड़ने पर जब मनुष्य को अग्नि के दर्शन हुए तब उसने विकास की दूसरी सीढ़ी पर क़दम रक्खा। अग्नि की सहायता से ही वह धातु के औज़ार बना सका।

पशु को अपना भोजन ढूँढ़ने में अपने पैरों का ही सहारा है। मनुष्य ने पशु को अपने वश में करके उसकी चाल से अपने को लाभ पहुँचाया। यों तो पशुओं में उसने यह काम बैल, गधा, खच्चर, ऊँट और हाथी से लिया, परंतु घोड़ा उसके लिए सबसे अधिक उपयोगी साबित हुआ। मनुष्य जाति के जिस समाज को पहले घोड़े की सहायता मिल गई वह सभ्यता में दूसरे समाज के आगे बढ़ने लगा।❀

पशु अन्य पशुओं को नहीं पालता, खेती नहीं करता, बाग़ नहीं लगाता, फलों की प्रतीक्षा नहीं करता; उसे तो जो कुछ प्रकृति से मिल

❀ जब सोलहवीं शताब्दी में योरपीय जातियाँ नई दुनिया में पहुँची तब तक वहाँ की जातियाँ घोड़े के उपयोग से अनभिज्ञ थीं।

जाय; उसी से संतोष करना है। सैकड़ों हज़ारों वर्ष तक मनुष्य भी शिकार के सहारे या कंद-मूल-फल खाकर अपना पेट भरता रहा, परंतु उसे इस जीवन से संतोष न था। अन्य जीवों से अधिक कुशल होने के कारण उसकी संख्या बढ़ती रही; इसलिए शिकार के सहारे उसी जगह में आवश्यक भोजन मिलना उसे कठिन मालूम होने लगा। तब उसने कुछ पशुओं को पकड़कर उन्हें पालना शुरू किया। पशुओं में गाय, बैल, भेड़, बकरी, ऊँट, हाथी, गधा, खच्चर और घोड़ा अधिक उपयोगी साबित हुए। गाय, बैल, भेड़, बकरी को पालकर उनके दूध और मांस से उसने अपना पेट पाला और ऊँट, हाथी, गधा, खच्चर और घोड़े से उसने सवारी का काम लिया। हाथी बहुत बड़ा जानवर है; इसलिए वह मनुष्य के बस में बहुत बाद में आया।

पशुओं को पालकर भी मनुष्य को चैन नहीं मिली। पले हुए पशु रक्षा मिलने के कारण बहुत शीघ्र बढ़े और उनके लिए चारे की कठिनाई होने के कारण उसे एक जगह से दूसरी जगह जाने की आवश्यकता पड़ने लगी। पशुओं के लिए जल की बहुत आवश्यकता थी। प्राकृतिक जल नदियों के किनारे ही था। इसलिए प्राचीन काल में मनुष्य की बस्तियाँ नदियों के किनारे ही थीं।

धीरे-धीरे प्राकृतिक चारे के अतिरिक्त मनुष्य ने पशुओं के लिए चारे को पैदा करने का प्रबंध किया। इस प्रबंध के सिलसिले में चारे से ऐसे बीज उसे मिले जिन्हें लेकर वह अपना पेट पालने का प्रबंध कर सका। खेती की बुनियाद पड़ी।

खेती शुरू करने के पहले मनुष्य का अपना कोई घर न था। उसे अपना घर फ़सल के हिसाब से बदलते रहना पड़ता था। वह खानेबदोश था, परिव्राजक था। खेती शुरू करते ही वह घर बनाकर बसने लगा। समाज की बुनियाद पड़ी।

सभ्यता के प्रारंभिक काल में नदियाँ ही आने जाने का सबसे सुगम मार्ग बताती थीं। ऊबड़खाबड़ ज़मीन और जंगल की कोई

कठिनाई न थी। केवल ऐसी चीज़ की आवश्यकता थी जो पानी पर ठहर सके, जिस पर बैठकर मनुष्य नदी का मार्ग काम में ला सके। नदियों के किनारे पेड़ थे ही। उनके सूखे हुए तनों ने पानी पर ठहर कर उसे नदी के मार्ग को काम में लाने का ढंग बता दिया। स्थल पर पालतू पशुओं का सहारा था ही, जल पर उसे नाव का सहारा मिल गया।

यों तो संसार के स्थलप्रदेशों में नदियाँ ही नदियाँ हैं, परंतु मनुष्य को बसने में सबसे अधिक सुविधा उन्हीं नदियों के किनारे थी जिनका बहाव अधिक तीव्र न था, जिनके दोनों किनारों पर उपजाऊ ज़मीन थी, जिसकी जलवायु मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए अनुकूल थी। संसार के जिस भाग को नई दुनिया कहते हैं उसकी प्राचीन सभ्यता का पता ऐतिहासिकों को बहुत कम है। कदाचित् बहुत समय तक वहाँ का जलवायु मनुष्य के लिए प्रतिकूल रहा। पुरानी दुनिया में भी योरप का अधिकतर भाग बहुत समय तक बर्फ़ से ढका रहा। परंतु एशिया और उत्तरी अफ़्रीका में कुछ भाग ऐसे थे, जहाँ का जलवायु मनुष्य जाति के लिए बहुत अनुकूल था। ये भाग थे नील नदी के मैदान का उत्तरी भाग जिसे मिस्र कहते हैं; अफ़ात और दजला नदियों का मैदान जिसे इराक़ कहते हैं; सिंधु, सरस्वती और गंगा-यमुना का मैदान, जो आजकल के सिंध, पंजाब और संयुक्त प्रांतों के अंतर्गत हैं; और यांग्टज़ी नदी की घाटी, जहाँ चीनी सभ्यता का जन्म हुआ।

इन मैदानों के अतिरिक्त योरप और अफ़्रीका के बीच एक बँधा हुआ समुद्र है, जिसे भूमध्यसागर कहते हैं। प्राचीन नाविकों को डांड़ का ही सहारा था। वे तूफ़ानी समुद्रों को पार करने में असमर्थ थे। भूमध्यसागर ऐसे शांत समुद्र में उनकी प्रारंभिक मल्लाही चल सकती थी। इसके अतिरिक्त भूमध्यसागर के निकट स्थित देशों की जलवायु मनुष्य जीवन के बहुत अनुकूल है। गर्मियों में पानी नहीं बरसता, परंतु जाड़ों में बरसता है। फल, वनस्पति और अन्न की

उपज अच्छी होती है। इसलिए मनुष्य-समाज को भूमध्यसागर के टापुओं और किनारे-किनारे योरप, एशिया और अफ़्रीका के महाद्वीप पर बसने का भी बहुत अच्छा मौक़ा मिला।

सभ्य समाज की पहली झलक जब हमें मिली है तो संसार के उन्हीं भागों में जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। अब से लगभग नौ हज़ार वर्ष हुए, संसार के उन भागों में जहाँ इराक़, मिस्र और पंजाब तथा सिंध के मैदान हैं, सभ्यता ने इतनी उन्नति कर ली थी कि मनुष्य-समाज ने नगर बनाना प्रारंभ कर दिया था। ईराक का नाम सुमेरु था। उस समय वहाँ अफ़्रात और दजला नदियाँ अलग-अलग मुहानों से फ़ारस की खाड़ी में गिरती थीं। इन नदियों से नहरों द्वारा सुमेरु के मैदान की सिंचाई का प्रबंध था। लोग खेती करते थे, पशु पालते थे, ईंट के मकान बनाते थे।

मनुष्य अपने विचार एक दूसरे से बातचीत के द्वारा ही प्रकट कर सकता था। जब तक उसे खेती करना नहीं आया तब तक उसे पेट की फ़िक्र करने के बाद इतना समय नहीं बचता था कि किसी विषय पर विचार कर सके। परंतु खेती शुरू करने पर उसे विचार करने की आवश्यकता पड़ी, और समय भी मिला। ऋतु परिवर्तन के साथ उसके हृदय में भय, विस्मय और आशा का संचार होता था। उसके निरीक्षण करने में ज्योतिष का प्रादुर्भाव हुआ। खेती के काम में उसे बहुत समय ऐसा मिल जाता था जब प्रतीक्षा करना ही उसका काम था। ऐसे समय प्रकृति की बदलती हुई छटाओं ने जो उसके मानस-पटल से टक्कर ली और फिर गार्हस्थ्य जीवन की घटनाओं ने जो उसके हृदय में भावुकता पैदा की, उससे कविता का जन्म हुआ।

गार्हस्थ्य जीवन और खेती की स्थिरता ने मनुष्य को विचार व्यक्त करने के लिए ही नहीं, उसे संचित करने, उसे अपनी संतानों के लिए छोड़ जाने के लिए भी प्रोत्साहित किया। पहले तो वह अपने विचार अपनी संतानों को सुनाकर याद करा देता था। इसीलिए ये विचार

श्रुति और स्मृति हुए। परंतु धीरे-धीरे उसे इन विचारों को चित्रित करना, लेखनी द्वारा प्रकट करना भी आ गया।

मनुष्य को सभ्यता के प्रारंभिक काल से चित्र बनाने का व्यसन था। पत्थर के भद्दे औज़ार इस्तेमाल करने वाले मनुष्य की कंदराओं तक में उसकी बनाई हुई चित्र-रेखाएँ पाई गई हैं। इन्हीं चित्र-रेखाओं का अंतिम विकास वर्णमाला में है। इराक़ और मिस्र की लिखावट पूरी तरह विकसित नहीं हो पाई। उनकी लिखावट चित्र-शब्द की श्रेणी तक रही। चीन की लिखावट में अब भी चित्र-शब्द का ही समावेश है। अन्य देशों में लिपि का विकास होता रहा। अब हम बहुत आगे हैं। परंतु विकास का सिल-सिला अब भी जारी है।

इस नौ हज़ार वर्ष पहले की सभ्यता के केंद्रों में मनुष्य का जीवन खेती, पशु-पालन अथवा व्यापार तक सीमित न था। उसे कला-कौशल का भी कुछ ज्ञान था। इमारतें बनाना, पत्थर और धातु से साधारण वस्तुएँ बनाना और कपड़ा बीनना उसे आता था। परंतु उसके विचारों में स्वतंत्रता न थी, उनमें उड़ान न थी। राजा से रंक तक ज्योतिषी पुरोहितों का हुक्म चलता था। उन्हों के आदेश से बड़े-बड़े बलिदान होते थे। उन्हीं की आज्ञानुसार उस प्राचीन काल में—मिस्र के पिरामिड के समान—वे इमारतें भी बनीं जो उस काल की सभ्यता की स्मारक हैं।

इस प्राचीन काल में मनुष्य के सामाजिक अधिकार बहुत सीमित थे। दास-प्रथा का ज़ोर था। लड़ाई में हारी हुई जाति के पुरुषों और स्त्रियों को जीवन-पर्यंत दास-जीवन भुगतना साधारण बात थी। औज़ारों की कमी की पूर्ति दासों की सेवा से की जाती थी। मिस्र के पिरामिडों पर जिन बड़े-बड़े पत्थरों को एक दूसरे पर चढ़े हुए देखकर हम आश्चर्य करते हैं, उन्हें दासों ने ही अपना पसीना बहाकर वहाँ पहुँचाया था।

पुरुष का थोड़ा-बहुत अधिकार था तो स्त्री का अधिकार नहीं के

बराबर था। स्त्री का दरजा दासी से कुछ ही बढ़कर था। विवाह प्रथा में उसकी प्रारंभिक दस्युता की बू अब भी बाक़ी है। उसके गहने तक जिनसे स्त्री-जाति को इतना प्रेम है, उसकी प्रारंभिक दस्युता के स्मारक हैं।

मानवीय सभ्यता के इस विकास की यह स्थिति अब से लगभग ५००० वर्ष हुए एक जाति से टक्कर खाती है, जो अपने को आर्य कहती थी।

इन आर्यों की आदि भूमि कहाँ थी, इसके विषय में बहुत मत-भेद है। स्वर्गीय लोकमान्य तिलक की धारणा थी कि आर्यों की आदि भूमि उत्तरी ध्रुव प्रदेश में थी। यह ध्रुव प्रदेश पहले इतना ठंढा न था। ठंढ बढ़ने के कारण उस प्रदेश में बसी हुई मनुष्य जाति को दक्षिण की ओर चलना पड़ा। कुछ विद्वानों का विचार है कि आर्यों की आदि भूमि योरप की उस नदी के किनारे थी, जिसे डैन्यूब कहते हैं। यहीं से बढ़कर ये इटली और यूनान पहुँचे। वहाँ से ईरान और गांधार होते हुए इस देश में आये। हिंदुओं का विश्वास है कि भारत ही आर्यों की आदि भूमि थी और श्रीसंपूर्णानंद ने एक महत्वपूर्ण खोज द्वारा यह मत पुष्ट किया है कि आर्यों की आदि भूमि भारत के सप्त-सिंधव प्रदेश में थीं। वहीं से चलकर आर्य जाति की शाखाएँ ईरान और भूमध्यसागरवर्ती यूनान तथा इटली के प्रदेशों में बसीं।※

एशिया में जिन प्रदेशों पर उनकी सभ्यता की छाप लगी वे हैं ईरान और भारत। जिन सभ्य भूभागों तक वे नहीं पहुँच सके वे थे मिस्र और इराक़ जहाँ उस जाति के लोग बसे थे जिन्हें समेटिक कहते हैं; और पूर्व में यांग्टजी का मैदान, जिसे चीन कहते हैं और जहाँ मुग़ल जाति के लोग बसे थे।

इन आर्यों के तत्कालीन सभ्य संसार से संपर्क का मानवीय सभ्यता के विकास पर चिरस्थायी प्रभाव पड़ा। आर्य ग्रामीण थे, उनकी सभ्यता में वह कृत्रिमता न थी जो भूमध्यसागर के किनारे

※ आर्यों का देश (लीडर प्रेस, प्रयाग)

बसी हुई फ़िनीशियन, मिस्री तथा इराक़ी सभ्यता में आ चुकी थी। इन्हें अपनी परंपरा पर गर्व था। अपने प्राकृतिक देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए प्रकृति की गोद में वे जो राग अलापते थे सो अभी तक ऋगवेद नामक ग्रंथ में सुरक्षित हैं। स्त्री-वर्ग का इनके समाज में मान था। इनकी शासन गोष्ठियों में प्रजातंत्र शासन व्यवस्था का बीज था। पुरोहितों पर इनका अंध-विश्वास न था। पराजितों को वे अपना दास अवश्य बना लेते थे। परंतु आर्य समाज के बीच दास प्रथा न थी। कोई आर्य किसी अन्य आर्य को दास नहीं बना सकता था।

इस जाति का जहाँ कहीं भी उस काल की अनार्य जातियों से संपर्क हुआ वहाँ ही आर्य जाति विजयी हुई। क्या कारण थे?

अनार्य जातियाँ सभ्यता में आर्यों के पीछे न थी। कला-कौशल में शायद सभ्य अनार्य आर्यों से बढ़े-चढ़े थे। मोहनजोदड़ो से लेकर मिस्र के पिरामिड तक इन अनार्य जातियों की बढ़ी-चढ़ी सभ्यता के साक्षी हैं। परंतु दो बातों में वे आर्यों के पीछे थे। उन्हें लोहे का ज्ञान न था, घोड़े की सहायता उन्हें प्राप्य न थी।

लोहे की बौछार और लड़ाके की प्रगति—इन दोनों में ही रण का मूलमंत्र प्राचीन काल से लेकर अब तक है। अनार्य जातियों को पैदल लड़ना ही आता था, उन्हें वह तेज़ी नसीब न थी जो उनके मुक़ाबले पर घुड़सवार आर्यों को थी। अनार्यों के हथियार काँसे के होते थे। उनमें वह शक्ति न थी जो आर्यों को लोहे के शस्त्रों में प्राप्य थी। इसलिए आर्यों के मुक़ाबले में अनार्यों को सब जगह दबना पड़ा। भूमध्यसागर के पश्चिमी किनारे पर बसी हुई फ़िनीशियन जाति को यूनानियों से दबना पड़ा। मिस्र पर यूनानी सभ्यता का रंग जमा। कार्थेज की शक्ति को रोमन लोहे के सामने झुकना पड़ा और धीरे-धीरे भूमध्यसागर के सभी प्रदेश रोमन साम्राज्य के अंतर्गत हो गये। उत्तरी ईरान में आर्य सभ्यता को अपना दख़ल जमाने में विशेष कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा, परंतु भारत में सिंध और

पजाब में बसी हुई अनार्य जातियों से आर्यों की बहुत समय तक लड़ाई रही। इस लड़ाई में भी विजय आर्यों की रही। हारे हुए अपनी हार का इतिहास नहीं लिखते; विजयी जाति ही अपनी यशोगाथा को अमर करने का प्रयत्न करती है। इसलिए अनार्यों के स्मारक केवल उनके बिखरे हुए खंडहर हैं। और उनके विरुद्ध यूनान, ईरान और भारत के प्राचीन साहित्य में आर्यों की यशोगाथा का एकतरफ़ा बयान है।

अनार्य हारे और आर्य जीते, परंतु इससे यह न समझना चाहिए कि आर्यों का अनार्यों से संपर्क होने पर आर्य सभ्यता पर उनकी सभ्यता का रंग नहीं चढ़ा। सच पूछिए तो अनार्यों के आर्यों से मिलने पर जिस सभ्यता का विकास हुआ, उसका आवरण तो आर्य सभ्यता का रहा, परंतु आंशिक परिवर्तन अनार्य सभ्यता के ही पक्ष में रहा। ऋग्वेदिक कालीन आर्य सभ्यता का मिलान जब हम यजुर्वैदिक तथा श्रुतिकाल की सभ्यता से करते हैं, अथवा जब हम प्राचीन यूनानी सभ्यता की तुलना उस सभ्यता से करते हैं जिसका प्रचार होमर के समय तक यूनानी प्रदेशों में हो चुका था तो हमें उपर्युक्त कथन की पुष्टि में यथेष्ट प्रमाण मिल जाते हैं।

अनार्य सभ्यता की विशेषता उसकी कृत्रिमता में थी। अनार्य समाज का अपने पुरोहितों पर अंध-विश्वास था। पूजा के लिए मूर्तियाँ और मंदिर आवश्यक थे। बलिदान धार्मिक कृत्य का एक विशेष अंश था।

आर्य तथा अनार्य सभ्यता का संघर्ष संसार के जिन भागों में बहुत समय तक रहा वे थे भूमध्यसागर के प्रदेश और उत्तरी भारत। भूमध्यसागर के प्रदेशों में व्यापारिक जीवन के कारण समाज पर धार्मिक भावों का रंग विशेष रूप से नहीं चढ़ सका। समाज के नेताओं ने शासन व्यवस्था, नागरिक के कर्त्तव्य और अधिकार तथा प्राकृतिक भेद की खोज में अपना मन लगाया। परंतु बलिदान तथा सामाजिक भेदभाव ने यूनानी सभ्यता पर भी

अपना रंग चढ़ाया । यूनानी देवी-देवताओं की संख्या बढ़ी और उनकी पूजा में शिल्पकला ने योग दिया । नागरिक जीवन में उन्होंने उन्नति की तथा नागरिक शासन पर उन्होंने बड़ी बड़ी विवेचनाएँ कीं । यूनानी स्वतंत्रता के प्रथम पुजारी माने जाते हैं; परंतु उनकी स्वतंत्रता, उनका सामाजिक जीवन, दास प्रथा की कच्ची बुनियाद पर थी । यूनान के आर्यों ने पड़ोसी अनार्यों की नक़ल करके ही दास प्रथा को अपने समाज का एक आवश्यक अंग बनाया । भारत में भी आर्यों की सरल और प्राकृतिक धार्मिकता पर अनार्यों का रंग चढ़ा । जाति-भेद की जड़ जमी, ब्राह्मणों का प्रभुत्व बढ़ने लगा । नये-नये देवी-देवता समाज के मंदिरों में भरती हुए; इंद्र, वरुण इत्यादि वैदिक देवताओं का अनादर होने लगा, पशुओं के बलिदान होने लगे ।

सभ्यता की बढ़ती हुई कृत्रिमता का एक कारण यह भी था कि सिंधु-सरस्वती और गंगा-यमुना का मैदान बहुत उपजाऊ है । यहाँ आवश्यक भोजन प्राप्त करने में आर्यों को कठिनाई नहीं हुई । कृत्रिमता को बढ़ाने के लिए यथेष्ट समय भी मिला ।

परंतु इस कृत्रिमता के बहुत बढ़ने पर अबसे लगभग ढाई हज़ार वर्ष पूर्व सभ्य संसार के प्रत्येक भाग में जीवन की वास्तविकता पर खोज करने की एक लहर व्याप्त हो गई । यह लहर उस समय से प्रकट अथवा गुप्त रूप में प्रत्येक देश और काल पर अपना असर डालती आ रही है । यह कैसे शुरू हुई, इसका प्रभाव मानवीय सभ्यता पर कहाँ तक हो चुका है, इसका विवरण अगले अध्याय में है ।
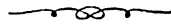
२. मानवता के प्रथम उपदेशक

मालूम होता है कि ढाई हज़ार वर्ष हुए सभ्य मानव-समाज ने भोजन की समस्या को हल कर लिया था और उसे अब इतनी फ़ुरसत थी कि वह लौकिक और पारलौकिक समस्याओं पर विचार

कर सके । ऐसी अवस्था में यूनान से चीन तक प्रत्येक सभ्य भूभाग में उन विचारशील पुरुषों ने जन्म लिया जिन्होंने जीवन की गहन समस्याओं पर विचार किया और जिनके उपदेशों का मानव समाज पर चिरस्थायी प्रभाव पड़ा है ।

यूनान का उल्लेख हो चुका है । यूनान के पड़ोस में अब से लगभग सत्ताइस सौ वर्ष पहले अनार्य जातियों के बड़े-बड़े साम्राज्य थे । दो सौ वर्ष के भीतर कार्थेज को छोड़कर मिस्र, फ़िलस्तीन और इराक़ के राज्य छिन्न-भिन्न हो गये । यूनानियों को अपने उपनिवेश बढ़ाने का मौक़ा मिला । उनकी प्रतिभा में भी जागृति हुई । पायथागोरस से लेकर सुक़रात, अफ़लातून और अरस्तू तक उनके बीच बड़े-बड़े दार्शनिक हुए । परंतु यूनानी प्रतिभा का झुकाव लौकिक विषयों की ओर था । पारलौकिक विषयों, जीवन-मरण के तत्व, पर उन्होंने अधिक विचार नहीं किया । यूनानियों और फिर उनके रोमन विजेताओं ने स्वतंत्रता और शासन विधान को जिस प्रकार पुष्ट किया और योरपीय सभ्यता के जिस प्रकार वे प्रवर्तक हुए, इसका विचार एक अलग अध्याय में किया जायगा । परंतु मानवता का प्रथम उपदेश देना उनका काम न था । हाँ, उस समय की जागृति उनके हिस्से में भी थी ।

उस समय के लगभग एक समृद्धिशाली जाति छिन्न-भिन्न हो चुकी थी, जिन्हें यहूदी कहते हैं । फ़िलस्तीन यहूदियों का देश था और इनके भाई-बंधु इराक़ से कार्थेज तक शासन कर रहे थे । परंतु अपनी भूमि में ही वे पददलित हुए, और उनका यह दुर्भाग्य उनका पीछा अब तक नहीं छोड़ता । संसार की समृद्धिशील जातियों में इनका स्थान है । संसार का कोई ऐसा देश नहीं, जहाँ यहूदी न बसे हों, जहाँ व्यापार और विद्या में बढ़े-चढ़े न हों, परंतु इनका अपना कोई देश नहीं । एक सूत्र जो इनको ढाई हज़ार वर्ष से परस्पर बाँधे हुए है, इनका धर्मग्रंथ है जो ओल्ड टेस्टामेंट के नाम से मशहूर है । इस धर्मपुस्तक की बुनियाद भी उसी ज़माने में पड़ी जिस समय सभ्य संसार में

पहली जागृति के लक्षण व्याप्त थे। आदि मनुष्य को सर्वशक्तिमान सर्वव्यापी ईश्वर का ज्ञान न था। यहूदियों की पहली मनुष्य जाति थी, जिसके पैग़ंबरों ने, इब्राहीम से लेकर इसाया (Isaiah) तक, मंदिरों के देवी-देवताओं के परे ऐसी दयालु शक्ति की ओर अपने शिष्यों को आकृष्ट किया जिसे वे जिहोवा कहते थे। इस ज़माने में ईरान का राज्य बहुत शक्तिशाली हो रहा था। इस देश में प्राचीन आर्यों ने बसकर वहाँ प्राकृतिक शक्तियों को देवता मानकर उनकी पूजा करने का प्रचार किया। उनके धार्मिक विश्वासों को ज़रथुस्त नामक आचार्य ने जिस ग्रंथ में इकट्ठा किया, उसे ज़िंदावेस्ता कहते हैं। जरथुस्त किस काल में हुए, यह निश्चित नहीं है। परंतु वह मत, जिसे पारसी धर्म कहते हैं, साइरस नामक ईरानी सम्राट् के समय (६०० ई० पू० से ५२६ ई० पू०) ईरान साम्राज्य का राजधर्म बना दिया गया। उस समय यह साम्राज्य सिंधु नदी से लेकर भूमध्यसागर तक था। इसलिए कुछ समय तक अवश्य पारसी धार्मिक विश्वासों का सभ्य संसार पर प्रभुत्व रहा। पारसी धर्म के मानने वाले अब बहुत कम रह गये हैं। परंतु पारसी धार्मिक विश्वास के बहुत कुछ अंश ईरानी सभ्यता के अंग हो गये और इस्लाम का प्रचार होने पर भी उनका प्रभाव ईरानी सभ्यता पर बना रहा।

चीन के मैदान में मुग़ल जाति के मनुष्य बसे थे। प्राचीन चीन का ईरानी अथवा भारतीय सभ्यता से कोई संपर्क न था। परंतु इसी काल में उस देश में भी ऐसे महापुरुषों ने जन्म लिया जिनके उपदेशों का चिरस्थायी प्रभाव चीन और जापान की सभ्यता पर पड़ा है।

अब से लगभग पच्चीस सौ वर्ष हुए चीन में एक महात्मा ने जन्म लिया जिसका नाम लाओज़ू था। जिस समाज में उसने जन्म लिया उसमें अराजकता फैली हुई थी, चाऊ वंश का राज्य छिन्न-भिन्न हो रहा था, विदेशियों के आक्रमण हो रहे थे, पारस्परिक कलह का बाज़ार गर्म था। ऐसी दशा में समाज में जो दुश्चरित्रता आ गई थी, इसका अनुमान किया जा सकता है। लाओज़ू ने राज दरबार में

आकर पहले तो सुधार का प्रयत्न किया, परंतु इसमें असफल होने पर उसने जिस मत का प्रचार किया उसे ताओ कहते हैं। इस मत का सारांश यह था कि मनुष्य अपनी शक्तियों पर भरोसा करके प्रयत्न करने पर ही असफल होता है। प्रयत्न न करने से ही, भाग्य के अधीन अपने को कर देने से ही, सफलता प्राप्त होती है। यह मत अपने भारतीय अनुरूप वैराग्य से थोड़ा-बहुत मिलता है। चीनी सभ्यता पर अकर्मण्यता का जो प्रभाव है, वह, संभव है, कि बहुत कुछ लाओज़ू के उपदेशों का दुरुपयोग होने के कारण हो।

लाओज़ू के कुछ ही समय पश्चात् उसी देश में एक दूसरे महात्मा ने जन्म लिया (जन्मकाल ५५१ ई० पू०) जिसका नाम कनफ़ूशियस था। कनफ़ूशियस के समय में भी अराजकता की धूम थी, और उसका संपर्क भी राज दरबार से रहा। परंतु उसके उपदेश में अकर्मण्यता का अवगुण नहीं है। वह परिपाटी का भक्त था, उसने गार्हस्थ्य जीवन को नियमित करने का विशेष प्रयत्न किया, माता-पिता की सेवा पर उसने ज़ोर दिया और राजा-प्रजा के बीच उसने पिता और उसकी संतान के भाव को पुष्ट किया। समाज का नियमन करने के लिए उसने शील और सौजन्य को चरित्र का प्रमुख अंग बताया और सामाजिक जीवन में विप्लव को रोकने के लिए उसने परंपरा की रक्षा करने का उपदेश दिया। कनफ़ूशियस के उपदेशों का चिरस्थायी प्रभाव चीन और जापान की सभ्यता पर पड़ा है। परंपरा का आदर तथा सामाजिक जीवन में शील और सौजन्य का जितना प्रभाव हम इन देशों की सभ्यता में पाते हैं उतना कहीं और नहीं।

भारत की पुण्यभूमि महात्माओं की वसुंधरा रही है। आर्यों को गंगा-यमुना की उपजाऊ भूमि में बसने पर धन-धान्य की कमी नहीं रही। जौ और गेहूँ (शीत प्रधान चरागाहों की एक प्रकार की घास) को उन्नत करके मनुष्य ने उसके बीज को भोजन का पदार्थ बनाया है। धान उष्ण-प्रधान दलदल भूमि का पौधा है, जिसके बीज को मनुष्य

ने उसी प्रकार उन्नत किया है। उस समय तक आर्य जाति के मनुष्य ने जौ-धान की खेती करना सीख लिया था। गाय-बैल और घोड़े वह पहले से ही पालता था। गंगा-यमुना की भूमि पर उसे दूध, मक्खन, जौ और धान—सभी प्रकार के दिव्य पदार्थ प्राप्त थे। शीतोष्ण जलवायु भी मनुष्य की कल्पना को जाग्रत करती है। बहुत शीघ्र आर्यों ने इस भूमि पर बसकर पारलौकिक विषयों पर मनन करना प्रारंभ कर दिया। प्राचीन आर्य गाँवों में रहते थे। थोड़ी बहुत बस्तियाँ ऐसी भी थी, जो नगर कही जा सकतीं थीं। परंतु आर्यों को खुली हवा का जीवन अधिक पसंद था। धीरे-धीरे अनार्यों के संपर्क से समाज का जो संगठन हुआ उसके एक अंग का काम ही धार्मिक विषयों पर मनन करना, धार्मिक कृत्य करना, और धार्मिक प्रचार करना रह गया।

प्राचीन काल में शिक्षा धर्म का एक आवश्यक अंग था। पुरोहित ही शिक्षक होते थे और शिक्षा भी धर्म की ही होती थी। धीरे-धीरे विचारशील ब्राह्मणों ने नगर से दूर प्रकृति की गोद में कुछ आश्रम बना लिये जहाँ वे जीवन के गूढ़ विषयों पर वार्तालाप द्वारा शिक्षा दिया करते थे। शिष्य उनके वार्तालाप को याद कर लिया करते थे और गुरु की गद्दी पाकर उसी वार्तालाप को थोड़ा-बहुत घटा-बढ़ाकर अपने शिष्यों को याद करा देते थे। यों ही श्रुति-साहित्य बना। धीरे-धीरे आर्यों ने लिखना सीखा और श्रुतिसाहित्य क़लमबंद हो गया। जिस समय की बात हम यहाँ कर रहे हैं उस समय तक आर्य सभ्यता में लिखने पढ़ने का प्रचार हो चुका था।

ब्राह्मणों के अतिरिक्त, और श्रेणी में लगभग उनके बराबर, आर्यों का एक और वर्ग था, जिसके कुछ विचारशील नेता फ़ुरसत पाने पर पारलौकिक विषयों पर मनन करने का प्रयत्न करते थे। ये आर्य क्षत्री वर्ग के थे। क्षत्री कर्मशील थे। उनकी धार्मिकता का वास्तविकता से बहुत कुछ संबंध था। ब्राह्मण तो धीरे-धीरे रूढ़ियों के समर्थक हो गए। परंतु क्षत्रियों ने उनके विरुद्ध वास्तविकता पर ज़ोर दिया। धार्मिक जागृति के प्रवर्तक क्षत्री ही थे।

उस समय तक दो विचार पुष्ट हो चुके थे। एक तो यह कि जीवात्मा का उस सर्व-व्यापक शक्ति से संबंध है जिसे परमात्मा कहते हैं। कुछ विद्वानों का विचार था कि जीवात्मा परमात्मा का ही अंश है। ये लोग अद्वैतवादी थे। कुछ का विचार था कि दोनों एक दूसरे से अलग हैं, यद्यपि जीवात्मा का परमात्मा से मिलकर एक होना ही उसका एकमात्र उद्देश्य है। ये लोग द्वैतवादी थे। परमात्मा के अस्तित्व में किसी को संदेह न था।

दूसरा सर्वमान्य विश्वास यह था कि जीवात्मा अजर और अमर है। शरीर नाशवान है, शरीर उसका आवरण मात्र है, जिसके पुराने पड़ने पर जीवात्मा उसे बदलकर दूसरे शरीर में प्रवेश करती है। यों पुनर्जन्म हुआ करता है। जीवन जीवात्मा का बंधन है। उसके कारण जीवात्मा अपने परमात्मा से मिलकर उसमें लीन नहीं होने पाती। उसे मोक्ष नहीं प्राप्त होती। इसलिए इस बंधन के रहते हुए भी महात्माओं का कर्तव्य है कि वे स्वयं जीवात्मा को जीवनमुक्त करें और मानव-समाज को मोक्ष का मार्ग दिखायें।

मोक्ष का क्या मार्ग है, इसी पर मतभेद था। ब्राह्मण-वर्ग की विचारधारा बहुत कुछ आर्य परंपरा के ही अनुकूल थी, जिसमें देवी-देवता और स्वर्ग की ही विशेष धूम थी। इन्हीं देवी-देवताओं को तृप्त करने के लिए यज्ञ की आवश्यकता और इनके तृप्त होने पर स्वर्ग की प्राप्ति थी। परंतु जिस समय की हम बात कर रहे हैं उस समय तक उनके विचारों में भी बहुत-कुछ परिवर्तन हो चुका था, जो उपनिषद् साहित्य से प्रकट है। उन्होंने भी मोक्ष को अपना आदर्श मान लिया था।

मोक्ष का एक मार्ग था ज्ञान। मनुष्य जीवात्मा की वास्तविकता को समझले, मायाविनी सृष्टि की असत्यता का भी अनुभव करने लगे, यों ही जीवात्मा की मोक्ष है। यह ज्ञान क्योंकर प्राप्त हो। एक वर्ग का विचार था विरक्ति द्वारा, संसार से अलग होकर ही,

वैराग्य लेकर ही, तपस्या द्वारा, इस ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। अधिकतर ब्राह्मण इसी मार्ग के समर्थक थे।

विरक्ति-मार्ग में अकर्मण्यता की रेखा है। यह मार्ग कर्मशील क्षत्रियों को पसंद न था। उन्होंने मोक्ष का दूसरा मार्ग दिखाया। वह है निष्काम कर्म। इस मार्ग के प्रवर्तक और नेता थे श्रीकृष्ण।

श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व के चारों ओर धार्मिक भावों का इतना गहरा पुट है कि उनके ऐतिहासिक अस्तित्व का पता लगाना कठिन हो जाता है। हमें यहाँ श्रीकृष्ण के उस रूप से कोई प्रयोजन नहीं है जिसकी कल्पना उनके भावुक भक्तों ने की है। हमें उनके केवल उस नैतिक और दार्शनिक रूप को समझना है जिसका चित्रण महाभारत में है।

श्रीकृष्ण आर्य थे या अनार्य, यह कहना कठिन है। परंतु जिन यादवों के वह नेता थे, वे अनार्य नहीं तो कुलीन आर्य भी न थे। शिशुपाल ने राजसूय यज्ञ में श्रीकृष्ण को तिलक किये जाने का जिन शब्दों में विरोध किया है, उनसे प्रकट है कि वह कुलीन क्षत्रिय न थे। गुजरात यादवों की भूमि थी और गुजरात में समुद्र मार्ग से सेमिटिक जाति के व्यापारी प्राचीन काल से बसते आ रहे हैं। संभव है, श्रीकृष्ण इस सेमिटिक जाति के हों। यादव कुल का शासन उनकी एक जाति-सभा द्वारा होता था। अपने नीति-कौशल द्वारा श्रीकृष्ण उस सभा के प्रधान हो गये थे। यों श्रीकृष्ण की दार्शनिकता किताबी न थी। उसमें सांसारिक सफलता का मूलमंत्र भी था।

श्रीकृष्ण भगवद्गीता के निर्माता माने जाते हैं। इस छोटी-सी पुस्तक के उपदेश का निर्माण युद्ध-क्षेत्र में हुआ, जिस समय अर्जुन कर्तव्य और मोह की दुविधा में पड़े थे। सारथि कृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश दिया वह कर्म-मार्ग की सर्वोपरि वस्तु है। उन्होंने मोक्ष के आदर्श को मानते हुए निष्काम कर्म को ही मोक्ष-मार्ग सिद्ध किया है। उस समय तक भारतीय समाज में वेदांत और सांख्य दर्शनों का निर्माण हो चुका था। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने दोनों के तत्व को

एक कर दिया है। गीता छोटी सी पुस्तक है, परंतु संसार के महत्वपूर्ण ग्रंथों में उसका स्थान है। आधुनिक काल में तो भारत के बाहर भी उसका बहुत आदर है।

धार्मिक छानबीन का सिलसिला चलता रहा। कर्ममार्ग और सांख्य के कुछ कट्टर पक्षपाती ईश्वर के अस्तित्व को ही मानने के लिए तैयार न थे। उन्होंने एक मत चलाया, जिसके मानने वाले जैन कहलाते हैं। जैन जीवात्मा को मानते थे, उसके पुनर्जन्म पर भी उनका दृढ़ विश्वास था, परंतु जीवात्मा से भिन्न ईश्वर पर उनका विश्वास न था। उन्होंने विरक्ति, तपस्या और जीव-रक्षा द्वारा निर्वाण प्राप्त करने का मार्ग बताया। जैन २४ तीर्थंकरों को अपने मत के प्रवर्तक मानते हैं। परंतु २३वें और २४वें तीर्थंकर ही के ऐतिहासिक अस्तित्व का पता चल सका है। महावीर २४वें और अंतिम तीर्थंकर थे।

महावीर का जन्म बिहार के उच्च राजकुल में हुआ और उसी प्रदेश में उन्होंने अपने उपदेश का प्रचार किया। अहिंसा, सत्य और तपस्या इनके उपदेश का तत्व था। जैन साहित्य बहुत विस्तृत है, परंतु उसके विरुद्ध नास्तिकता का दोष लगने के कारण उसका विशेष प्रचार नहीं हो सका, यद्यपि अहिंसा और सत्य पर जैन मत के सम-कालीन बौद्ध मत ने भी ज़ोर दिया, जिसका संसार की सभ्यता पर चिरस्थायी प्रभाव पड़ा है।

आज से लगभग चौबीस सौ वर्ष पहले आधुनिक नैपाल राज्य में कपिलवस्तु नामक नगर के निकट गौतम बुद्ध का जन्म हुआ। नैपाल आर्य और मुग़ल भूमियों के संगम पर है। नैपाल के मनुष्य आर्य नस्ल के लोगों से उतना नहीं मिलते जितना मुग़ल नस्ल के लोगों से। उनकी पतली आँखें और चिपटी नाक हमें चीनियों की याद दिलाती है न कि पंजाबियों की। चीन और जापान के बुद्धभक्त बुद्ध को आर्य मानकर भारतीय स्वाभिमान का आदर करते हैं, परंतु क्या यह संभव नहीं है कि जिस नस्ल की मनुष्य जाति पर बुद्ध का सबसे अधिक प्रभाव है, उसका कुछ अंश बुद्ध के व्यक्तित्व में भी हो?

किस प्रकार राजकुमार सिद्धार्थ ने बुद्धपद प्राप्त किया, इसका उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। परंतु जिस प्रकार सिद्धार्थ ने बुद्ध तथागत होकर अपने मत का प्रचार किया उसका विशेष महत्व है।

बुद्ध कोरे महात्मा न थे। वह नीतिज्ञ भी थे। उच्च राजकुल में जन्म लेकर उन्होंने फकीरी का बाना पहना, इसलिए उनके उपदेश को राजदरबारों में आदर पाना कोई बड़ी बात न थी। परंतु उनके उपदेश का साधारण प्रजा पर भी प्रभाव पड़ा। इसके कई कारण थे।

बुद्ध के उपदेश में नई बातें अवश्य थीं। उन्होंने ईश्वर की सत्ता के प्रश्न को अलग रखकर मनुष्य को ध्यान, ज्ञान और कर्म ही द्वारा निर्वाण का मार्ग दिखाया। उन्होंने तपस्या के कष्ट और यज्ञ के आडंबर से अपने श्रोताओं को बचाया और राजा से रंक तक को अच्छे कर्म द्वारा ही निर्वाण प्राप्त करने का मौक़ा दिया। उनका उपदेश ब्राह्मणों के महत्व को कम अवश्य करता था, वर्ण व्यवस्था पर भी उसका प्रभाव पड़ता था, परंतु बुद्ध ने न ब्राह्मणों का विरोध किया न वर्ण व्यवस्था का। उन्होंने अपने उपदेश को सनातन-धर्म के अनुकूल बताया। समय पाकर ही उनके मतानुयायी विधर्मी समझे जाने लगे। उस समय तो उनके उपदेश का उसी प्रकार आदर हुआ जिस प्रकार तत्कालीन समाज में अन्य मत-मतांतरों का हुआ करता था।

बुद्ध ने साधारण जनता तक पहुँचने के लिए उनकी मातृभाषा का ही प्रयोग किया। तत्कालीन समाज की मातृभाषा संस्कृत न थी, यद्यपि शास्त्रार्थ और पठन-पाठन संस्कृत में ही हुआ करता था। बुद्ध ने अपने उपदेशों में पाली तथा मागधी भाषा का प्रयोग करके प्रयाग से चंपा तक के प्रदेश की जनता के हृदय में अपना घर कर लिया।

बुद्ध के उपदेश उनके जीवन के साथ ही समाप्त हो जाते यदि दूरदर्शी नीतिज्ञ होकर उन्होंने उसके प्रचार के लिए भिक्षु-संघ नामक संस्था न स्थापित कर दी होती। बुद्ध पहले उपदेशक थे जो ऐसी

संस्था स्थापित कर सके, जिसका एक मात्र कार्य उनके उपदेश का प्रचार करना ही था। यह इस संस्था ही का काम था जो बुद्ध के उपदेशों को एक नये-धर्म का रूप देकर भारत के भीतर और बाहर तत्कालीन सभ्य संसार भर में प्रचार कर सकी।

लगभग तेइस सौ बर्ष पहले की बात है (३२६ ई० पू०), इस देश पर महान सिकंदर का आक्रमण हुआ। सिकंदर भारत में कोई राज्य नहीं स्थापित कर सका, उसके जाने के बाद ही उसका राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और भारत में मौर्य साम्राज्य की बुनियाद पड़ी, परंतु इस आक्रमण से भारत का यूनान और मिस्र तक के देशों से संपर्क हो गया। अशोक ने सम्राट होकर बौद्ध-धर्म को अपनाया और उसकी पताका—मौर्य-साम्राज्य की नहीं—यूनान और मिस्र तक पहुँचाई। धीरे-धीरे बौद्ध-धर्म के भीतर मत-मतांतर बढ़ने लगे और वह हीनयान तथा महायान के दो बड़े दलों में विभक्त हो गया। अशोक के लगभग दो सौ वर्ष पश्चात् कुशान वंश में एक और सम्राट हुआ, जिसने गांधार और तुर्किस्तान जीतकर चीन साम्राज्य से भारत का संपर्क कराया और बौद्ध-धर्म की पताका को चीन तक पहुँचाया, जहाँ से पाँच सौ वर्ष बाद वह सभ्य संसार के पूर्वतम छोर जापान तक पहुँचा।

इस बौद्ध-धर्म का आंशिक महत्व यह है कि वह मानव-समाज को पाशविक प्रवृत्ति से हटाकर पहली बार उसे मानवता की झलक दिखाता है। बौद्ध-धर्म का प्रचार होने के पहले संसार मात्र में बलिदान द्वारा देवी-देवता प्रसन्न होते थे, स्वर्ग की प्राप्ति होती थी। पारस्परिक व्यवहार में पाशविकता का ज़ोर था। युद्ध में हारे हुए मनुष्यों को आजीवन दासता करना पड़ती थी। कुछ जातियों में तो पराजित नर-नारियों का बलिदान भी कर दिया जाता था। ऐसे पाशविक मनुष्य समाज को अहिंसा का मूल-मंत्र देकर बुद्ध ने मानवीय सभ्यता की कितनी भारी सेवा की, इसका अनुमान करना कठिन है।

अहिंसा के प्रचार में, पाशविक प्रवृत्ति को रोकने का ही भाव नहीं, समाज-सेवा का भाव भी है। बुद्ध ने मनुष्य के कष्ट का मूल कारण उसका स्वार्थ ही बताया। मनुष्य ही ईश्वर का साकार रूप है। उसकी सेवा करके हम निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं। अहिंसा के साथ-साथ सेवा-भाव के प्रचार ने भी मानवीय सभ्यता के विकास में जो सहायता दी उसका अनुमान यों किया जा सकता है कि बौद्ध-धर्म प्रचार के पहले चिकित्सा-शास्त्र का अस्तित्व न था, साधारण जनता में शिक्षा प्रचार का भी अभाव ही था। बौद्ध भिक्षुओं ने समाज की सेवा सुश्रूषा के नाते चिकित्सा-शास्त्र को उन्नत किया और साधारण जनता में शिक्षा प्रचार भी किया। चीन और बर्मा के अवनति काल में शासकों की ओर से शिक्षा का प्रबंध न होने पर भी बौद्ध भिक्षुओं द्वारा जितना शिक्षा का प्रचार था उसका हाल मालूम करके आश्चर्य होता है।

धीरे-धीरे बुद्ध के उपदेश तो भूले जाने लगे परंतु उनके नाम की पूजा होने लगी। इस पूजा में वे देवी-देवता भी सम्मिलित कर लिये गये जिनमें जनता का पहले से विश्वास था। यों महायान का विकास हुआ। बुद्ध ने मनुष्य को पाशविकता से हटाकर सेवा की ओर प्रवृत्त कर ही दिया था, संहार से निर्माण की ओर उसकी रुचि हो ही गई थी, महायान धर्म के प्रचार से उन कलाओं का विकास भी हुआ जो मनुष्य को शांति की ओर प्रवृत्त करती हैं। देवी-देवताओं के लिए मंदिर और मठ बने, भिक्षुओं के लिए विहार बने, उनकी हड्डियों की रक्षा के लिए स्तूप बने। स्थापत्यकला का विकास हुआ। भक्तों ने देवी-देवताओं का कीर्तन किया, उनकी स्तुति में कविता की। गानविद्या और काव्यकला का विकास हुआ। भक्तिभाव ने मनुष्य को शासकों की आज्ञा पालने की ओर भी प्रवृत्त किया। सभ्यता को शांति से विकसित होने का अवसर मिला।

समय पाकर बौद्ध धर्म अपनी जन्मभूमि से उठ गया। भिक्षुओं की चरित्रहीनता और राजनैतिक परिवर्तनों ने बौद्ध-धर्म के प्रभुत्व को

भारत में मिटा दिया। परंतु उस धर्म का प्रभाव बना रहा। नाम मिट गया, परंतु सुगंध बाक़ी रही। बौद्ध-धर्म के लुप्त होने पर पौराणिक काल में जिन संप्रदायों ने भारत में ज़ोर पकड़ा, उन सबमें बौद्ध-धर्म का थोड़ा-बहुत अंश है। वैष्णव संप्रदाय को तो महायान का उत्तराधिकारी ही समझिए। देवी-देवताओं के नाम बदले हुए हैं; वही अहिंसा, वही मूर्ति-पूजा और कीर्तन, वही आडंबर।

चीन और जापान में बौद्ध-धर्म का प्रचार अब भी है। इसका कारण यह है कि वहाँ पहुँचते ही अपना विदेशी आवरण हटाकर वह स्वदेशी परंपरा से घुलमिल गया। चीन में उसने लाओज़ू और कनफ़ूशियस से समझौता किया और जापान में वह उस देश के शिंतो धर्म से घुलमिल गया। दोनों देशों में बौद्ध-धर्म का देशी धार्मिक विश्वासों से कोई विरोध नहीं है। बौद्ध कनफ़ूशियस को मानते हैं और अपने पूर्वजों की पूजा भी करते हैं जो शिंतो का मूल सिद्धांत है।

भारत के पश्चिम की ओर उस समय तक किसी विशेष धार्मिक विश्वास का प्रचार न था। गांधार और ईरान से भूमध्यसागर की पश्चिमी सीमा तक स्थानीय देवी-देवताओं की पूजा होती थी। केवल यहूदियों की ही एक ऐसी जाति थी जिसके धार्मिक विश्वास ने साकार रूप धारण कर लिया था। उन्हें सृष्टि के निर्माता सर्वशक्तिमान परमात्मा का ज्ञान था और बाइबिल का वह भाग जिसे अब ओल्ड टेस्टामेंट कहते हैं, उनका धर्म-ग्रंथ था। यहूदी जाति छिन्न-भिन्न होकर भूमध्यसागर के चारों ओर बस गई। उसके संपर्क से स्थानीय देवी-देवताओं के साथ-साथ समाज का विश्वास परमात्मा और उनका संदेश देनेवाले पैग़ंबरों की ओर भी होने लगा।

ऐसे ही समय इन भूभागों तक बौद्ध-धर्म के प्रचारक पहुँचे। बौद्ध प्रचारकों की नीति अपने उपदेश को स्थानीय विश्वासों के अनुकूल बनाने की थी। जो ढंग उनका चीन-जापान में था, वही ढंग उन्होंने पश्चिमी एशिया में बर्ता। यहाँ उन्होंने प्रचलित यहूदी धर्म से सम-

भौता किया। यहूदियों की आस्तिकता को अपनाया और बदले में उन्हें अहिंसा और सेवा का मूलमंत्र दिया ।

महात्मा ईसा ईसाई धर्म के प्रवर्तक माने जाते हैं। यह भी माना जाता है कि ईसाई धर्म का प्रचार उस समय से प्रारंभ हुआ, जब ईश्वर के बेटे ने मानव समाज के उद्धार के नाते अपने तईं क़ुरबान कर दिया और इसीलिए वह मसीहा कहलाये। सन् ईसवी का जन्म इसी घटना से माना जाता है। यों ईसाई धर्म का प्रचार प्रारंभ हुए उतने ही वर्ष हुए हैं जितनी सन् ईसवी की संख्या है। परंतु यह विश्वस्त रूप से नहीं कहा जा सकता कि मसीहा का कोई व्यक्तित्व भी था। जो कुछ हो, इसमें कोई संदेह नहीं कि ईसा के जिन उपदेशों का बाइबिल में संकलन है उनमें यहूदी आस्तिकता और बौद्धिक सेवा-भाव का सम्मिलन साफ़ तौर से झलकता है।

ईसाई धर्म के प्रचारकों ने उसी संस्था का अनुकरण किया जिसके द्वारा बौद्ध-धर्म का प्रचार हो सका था। बौद्ध-धर्म की सेवा के लिए यदि भिक्षु और भिक्षुणी थे तो ईसाई धर्म की सेवा में मांक और नन थे। भिक्षुओं के विहार थे तो मांकों के लिए मानस्टरियाँ थीं। चिकित्सा और शिक्षा द्वारा बौद्धों की बहुत कुछ समाज सेवा होती थी। वही ढंग ईसाई पादरियों का तब से अब तक है।

ईसाई धर्म के नाम से महात्मा बुद्ध का संदेश पूरे योरप में फैला और फिर योरपीय सभ्यता के प्रचार के साथ-साथ वह संसार के प्रत्येक कोने तक पहुँच गया है। यह माना जा सकता है कि बुद्ध और ईसा के संदेश को दो हज़ार वर्ष तक प्रचार होते हुए भी मनुष्य में बहुत कुछ पाशविकता है। परंतु यह पाशविकता उसके सामने कुछ नहीं है जिसका राज्य इन धर्म-प्रचारकों के इस संसार में प्रकट होने के पहले था।

ईसाई धर्म के प्रचारक अत्याचार और निर्दयता को रोकने में बहुत सफल नहीं हुए, इसका भी एक कारण है। बौद्ध-धर्म के प्रचारकों को भारत अथवा चीन और जापान में प्रचलित धर्म की ओर से

विरोध का कठिन सामना नहीं करना पड़ा। इसलिए बौद्ध प्रचारक यथेष्ट सहनशील रहे और प्रचलित धार्मिक विश्वासों से समझौता भी कर सके। इसके विरुद्ध ईसाई प्रचारकों पर सिर मुँडाते ही ओले पड़े। मसीहा असहनशीलता की वेदी पर ही बलि चढ़े। फिर रोमन साम्राज्य में भी ईसाइयों पर घोर अत्याचार हुआ। आगे चलकर इस्लाम से भी उनका घोर विरोध रहा। इसलिए असहनशीलता का सामना करते-करते वे स्वयं असहनशील हो गये। पारस्परिक मतभेद होने पर एक ईसाई समाज द्वारा दूसरे ईसाई समाज पर जितना अत्याचार किया गया, उसकी कहानी खून से गहरी सनी है। प्रोटेस्टेंट और रोमन केथोलिक पादरी मसीहा का नाम लेते हुए भी सैकड़ों वर्ष तक योरप की पृथ्वी को विरोधी मतावलंबियों के खून से रँगते रहे।

समय पाकर योरपीय जातियाँ धर्म से उदासीन हुईं और राष्ट्रीय गुट्ट बनाकर आर्थिक विरोध के नाते एक दूसरे का खून करने लगीं। यों योरपीय सभ्यता ईसा का पवित्र उपदेश पाकर भी पाशविक प्रवृत्तियों का शिकार बनी रही है। कब और किस प्रकार इस प्रवृत्ति से उसे नजात मिल सकेगी, यह भविष्य के गर्भ में है।

---

३. यूनान तथा रोम; स्वतंत्रता और व्यवस्था का विकास

धार्मिक विश्वास के विकास ने जिस मानव-जीवन को शांतिमय बनाने का प्रयत्न किया उसका उल्लेख हो चुका है। आर्यों की विचार-शक्ति बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। उर्वरा भारतभूमि के शांतिमय जीवन ने उनकी विचारधारा पारलौकिक विषयों की ओर अग्रसर की। भूमध्य-सागर के किनारे पहाड़ी तटों और द्वीपों में बिखरी हुई बस्तियों की जीवन-समस्याओं ने उनकी विचार धारा को प्रकृति की खोज और

सामाजिक व्यवस्था की ओर अग्रसर किया। यहाँ उनकी प्रवृत्ति धार्मिक विवेचना की ओर न थी। प्रचलित देवी-देवताओं को दिव्य रूप देकर ही उन्होंने अपनी धार्मिक प्रवृति को शांत किया।

अपनी आदि भूमि में आर्यों का सामाजिक जीवन छोटे-छोटे गाँवों का ही था। मवेशी चराना या खेती उनका व्यवसाय था। समाज के बड़े-बूढ़े गोष्ठ में बैठकर गाँव की समस्याओं पर गोष्ठी करते थे और उनकी व्यवस्था से गाँव का शासन होता था। परंतु भूमध्यसागर के किनारे व्यापार की भूमि थी, क्योंकि यहाँ तीन बड़े स्थल भागों का संगम है। यहाँ आर्यों के बसने के पहले से ही फ़िनीशियन जाति ने कई नगर बसा लिये थे जो व्यापार के केंद्र थे। इसलिए भूमध्यसागर के किनारे बसे हुए आर्यों ने भी नागरिक जीवन को अपनाया और व्यापार को अपना मुख्य व्यवसाय बनाया।

भूमध्यसागर के किनारे आर्यों की पहली बस्तियाँ उस भाग में थीं जिसे यूनान कहते हैं। पहले वे यूनान और उसके निकट छोटे-छोटे टापुओं में बसे। फिर उन्होंने अपनी बस्तियाँ पश्चिम और दक्षिण की ओर भी बढ़ाईं। पश्चिम में टाइबर नदी के किनारे उन्होंने अब से लगभग सत्ताइस सौ वर्ष पहले एक नगर की नींव डाली, जो रोम के नाम से प्रसिद्ध है।

भूमध्यसागर के किनारे बसने वाले आर्यों को जिस जाति का कठिन सामना करना पड़ा वे फ़िनीशियन थे। ये फ़िनीशियन कुशल नाविक थे। इनका व्यापार खूब बढ़ा-चढ़ा था, और इन्होंने कई बड़े-बड़े नगर बसा रक्खे थे। क्रीट नामक टापू पर इनके सम्राट की राजधानी थी। इनके एक सम्राट का नाम क़ारूँ था, जो अपने अतुल धन के कारण कहावत में आकर अमर हो गया है। अतुल धन राशि को 'क़ारूँ का ख़ज़ाना' कहते हैं।

यह क़ारूँ भूमध्यसागर के किनारे बसे हुए फ़िनीशियन व्यापारियों का अंतिम सम्राट था। लगभग २५०० वर्ष हुए ईरानी आर्य इस सम्राट पर विजयी हुए और पूर्वी भूमध्यसागर का प्रभुत्व आर्यों के हाथ आया।

जिस प्रकार यूनान और ईरान में बसे हुए आर्यों का सामना क्रीट और मिस्र के प्रभुत्व से था, उसी प्रकार रोम में बसे हुए आर्यों का सामना इसी व्यापारी जाति के नागरिक साम्राज्य कार्थेज से था। कार्थेज इटली के दक्षिण अफ्रीका के उत्तरी किनारे के उस भाग में था, जहाँ अब ट्यूनिस है। बहुत समय तक रोम और कार्थेज बिना एक दूसरे से लड़े अपनी उन्नति करते रहे। परंतु अब से लगभग इक्कीस सौ वर्ष हुए दोनों की लड़ाई ठन गई। यह लड़ाई सौ वर्ष तक रही। विजय रोम के हाथ रही। कार्थेज नष्ट कर दिया गया। आर्य जाति का प्रभुत्व पूरे भूमध्यसागर पर हो गया। लगभग ६०० ई० पू० से फ़िनीशियन जाति का पतन प्रारंभ हुआ। पांच सौ वर्ष के भीतर इनका सर्वनाश हुआ।

फ़िनीशियनों के पतन का क्या कारण था? धन में तो ये बढ़े-चढ़े थे ही, जल-शक्ति में भी ये सर्वोपरि थे। स्थल-युद्ध में ये इतने कुशल न थे। परंतु वीरता की इनमें कमी न थी। हैनिबल इसी फ़िनीशियन जाति का वीर था, जो अपने समय में अजेय समझा जाता था। धनबल और बाहुबल होते हुए भी ये जो पतित हुए, उसका कारण था उनमें मनुष्यता की कमी, उनकी दासप्रथा, पुरोहित-वर्ग का उनकी विचारशक्ति पर घोर दमन।

फ़िनीशियन सभ्यता की नींव दासप्रथा पर थी। इनकी नावों (गैलियों) पर दासों से काम लिया जाता था और इनकी सेनाओं में अफ़सरों को छोड़कर बाक़ी भरती दासों की ही थी। दासों से कारीगरी का काम लिया जाता था। वे ही उनके बच्चों को पढ़ाने तक के लिए नियत थे। मनुष्य की ख़रीद-फ़रोख़्त इनके व्यापार का प्रधान अंग था। इन दासों के साथ पशुवत् व्यवहार किया जाता था। निश्चित था कि फ़िनीशियन शासकवर्ग पर पहला धक्का लगते ही दासवर्ग ने अपना सिर उठाया होगा। कुछ दुश्मन से पिटे, बाक़ी का काम उनके दासों ने ही तमाम किया।

पुरोहित-वर्ग का कठोर शासन होने के कारण फ़िनीशियनों की

विचारशक्ति निर्बल हो गई थी। वे नई परिस्थितियों का सामना करने में असमर्थ हो गये थे। यूनानी आर्य इनके मुक़ाबले अधिक स्वतंत्र थे, रण-कौशल में भी बढ़े-चढ़े थे। फ़िनीशियनों की पराजय निश्चित थी।

फ़िनीशियनों पर विजय पाकर यूनानी आर्यों में जो प्रतिभा प्रस्फुटित हुई वह सभ्य संसार की निधि है। आर्यों में विचार की स्वतंत्रता थी ही। फ़िनिशियन लोगों की नकल पर दासों को मोटे कामों में लगाकर विचार-विनोद के लिए बहुत कुछ फ़ुरसत भी पा गये।

यूनानी आर्य बिखरी हुई बस्तियों में बसे थे। उन्हें किसी साम्राज्य के भीतर संगठित करना असंभव था, क्योंकि उनकी संख्या कम थी, और एक दूसरे के बीच सैकड़ों स्वतंत्र जातियाँ बसी थीं। राजनैतिक संगठन असंभव था तो सांस्कृतिक संगठन के लिए प्रयत्न करना और भी आवश्यक था। इस संगठन के लिए आलंपिक खेलों की योजना की गई (७७६ ई० पू०), यूनानी साहित्य का निर्माण हुआ।

यूनानी आर्यों की प्रवृत्ति धर्म की ओर न थी। लौकिक आनंद का उपभोग करने में ही उनकी मानसिक तृप्ति होती थी। स्थानीय मनुष्य समाज में मरने के पश्चात् आवागमन पर विश्वास न था, एक सुंदर स्वर्ग की ही कल्पना थी, जिसमें उनके देवी-देवता सानंद निवास करते थे। इस स्वर्ग प्राप्ति के लिए इन देवी-देवताओं की पूजा करना ही यथेष्ट था। यूनानियों का विश्वास था कि उनके देवी-देवता आलिंपस पहाड़ की चोटी पर रहते हैं। यूनानी शारीरिक सौंदर्य और स्वास्थ्य के प्रेमी थे। उन्हें विश्वास था कि उनके देवी-देवताओं को भी शारीरिक बल और स्वास्थ्य प्रदर्शन पसंद होगा। यों उन प्रतियोगिताओं की बुनियाद पड़ी, जो आलंपियाड कहे जाते थे। प्रतियोगिताओं का मेला प्रति चौथे वर्ष होता था। उसमें सब यूनानी बस्तियों के बलिष्ठ युवक और सुंदर युवतियाँ इकट्ठी होती थीं। दौड़ के अतिरिक्त कुश्तियाँ, मुक्केबाज़ी, रथ-दौड़ और घुड़-दौड़ भी होती थीं। कूदने तथा चक्र

और भाला फेंकने की प्रतियोगिताएँ भी होती थीं। प्रतियोगिताएँ पाँच दिन तक होती रहती थीं, और यूनानी ही उनमें सम्मिलित हो सकते थे। प्रतियोगी नग्न होकर प्रतियोगिता में सम्मिलित होते थे और यों दर्शकों को शारीरिक सौंदर्य और बल देखने का पूरा मौक़ा मिलता था। ई० पू० ७७६ में शुरू होकर सैकड़ों वर्ष तक ये आलंपिक खेल नियमानुसार होते रहे। दो हज़ार वर्ष बाद यूनान की स्मृति ने योरपीय खिलाड़ियों को जाग्रत किया और उसी नाम से फिर प्रतियोगिताएँ प्रारंभ हुई। सन् १९४० में बारहवीं प्रतियोगिता होने वाली थी, परंतु अंतर्राष्ट्रीय संकट में खेल का अवसर कहाँ!

यूनानियों के सौंदर्योपासन का भाव भारतीय आर्यों के भाव से कितना भिन्न है, यह दोनों की शिल्प-कला में प्रकट है। यूनानी मूर्तियाँ शारीरिक बल, फुर्ती और सौंदर्य के दर्शन देती हैं। भारतीय कलाकार आंतरिक शांति और सौम्य भाव का प्रदर्शन करते हैं। एक से कामेंद्रियों की तृप्ति होती है, दूसरी अंतरात्मा को शांति पहुँचाती हैं।

प्राचीन यूनानी साहित्य में भी इसी भेद की झलक मिलती है। यूनानियों ने आत्मिक ज्ञान के गूढ़ विषय पर बहुत कम विवेचना की; परंतु राजनीति, समाज शास्त्र, ज्योतिष, काव्य, नाटक, शिल्प और चित्रकारी की ओर उनकी अधिक मनोवृत्ति थी। पाइथागोरस (ल० ५७०-५०४-ई०-पू०) से लेकर अरस्तू (ज० ३८४ ई० पू०) के काल तक यूनानी नागरिक राज्य एक दूसरे से स्वतंत्र रहे। उनका काम आपस में लड़ना, आलंपिक खेलों में मिलना और साहित्यिक विनोद करना था।

यों तो यूनान के इस स्वर्ण युग में अनेक विद्वान और नीतिज्ञ हुए, परंतु तीन नेताओं का उल्लेख करना आवश्यक है। ये थे होमर, परिक्लीज़ और सुक़रात।

होमर यूनानी भाषा का आदि कवि था। होमर के अस्तित्व का पता बहुत कम है। कहा जाता है कि वह जन्मांध था। यूनानियों के ट्राय बिजय के कुछ समय पश्चात् (लगभग ६००-ई०पू०) उसने दो महा-

काव्यों में यवन विजय की यशोगाथा वर्णन की। ईलियड में विजय-गाथा है और ओडेसे में यवन वीर ओडिसियस और यूलीसिज के विचित्र देशों में भ्रमण करने की गाथा है। इन दो ग्रंथों का यवन साहित्य में वही महत्व है जो महाभारत और रामायण का संस्कृत में है। बिखरे हुए यूनानियों को एक सांस्कृतिक सूत्र में बँधा रखने में इन दोनों काव्य-ग्रंथों ने बहुत सहायता दी। इन दोनों ग्रंथों के पश्चात् परिक्लीज़ के शासन काल तक (४६६-४२८ ई० पू०) यूनान में कई कवि और नाटककार हुए। सोफोक्लीज़, एस्किलस, यूरीपिडीज़ और अरिस्टोफ़नीज़—सभी ने काव्य और नाटक द्वारा यवन समाज का मनोविनोद किया और उनकी सांस्कृतिक उन्नति भी की।

सांस्कृतिक उन्नति का प्रधान कारण था यूनान के नागरिक जीवन की स्वतंत्रता। आर्यों ने यूनानी होकर अपने नगरों के शासन विधान में उन्हीं सिद्धांतों का प्रयोग किया जिन्हें वे अपने गाँवों की गोष्ठियों में किया करते थे। यूनानी नागरिक नगर के चौक में नियमित समय पर जमा होते थे, अपने शासकों का चुनाव करते थे, नागरिक प्रबंध के आय-व्यय को मंजूर करते थे, समाज संचालन के नियम बनाते थे। ऐसा शासन विधान तभी सफल हो सकता था, जब उसमें सम्मिलित होने वाले पढ़े-लिखे हों, समझदार हों और ऐसे शासन के नेता वही हो सकते थे जिनमें वाक्पटुता हो, जो विद्वान हों। यों यूनानियों का शासन विधान ही उनकी विशेष उन्नति का कारण था।

यूनान के इस स्वतंत्र शासन विधान के नेताओं में परिक्लीज़ का प्रमुख स्थान है। होमर के अस्तित्व के विषय में मतभेद है, परंतु परिक्लीज़ के शासनकाल और उसके व्यक्तित्व का परिचय उसके समकालीन इतिहासवेत्ता हिरोडोटस के बदौलत विस्तृत रूप से हमारे सामने है।

ईसामसीह के लगभग पाँच सौ वर्ष पहले की बात है, ईरान की शक्ति बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। ईरान के सम्राट ने यूनानी नागरिक राज्यों

को जीतने का प्रयत्न किया। एथेंस राज्य इनका नेता था। ईरानियों की हार हुई। एथेंस का यूनानी नागरिक राज्यों में प्रभुत्व बढ़ा। ऐसे ही समय परिक्लीज़ के हाथ में एथेंस के शासन की बागडोर आई।

एथेंस और यूनानी संस्कृति की उसके शासन काल में इतनी उन्नति हुई कि यूनानी साहित्य में उस युग को 'परिक्लीज़ का युग' कहते हैं। प्रसिद्ध शिल्पकार फ़ीडियास ने यूनानी मंदिर पार्थनान् में ईरान की हार की स्मृति में एथना की विशाल मूर्ति स्थापित की। कविराज सोफ़ोकलीज़, इतिहासज्ञ हिरोडोटस और वैज्ञानिक अनक्सागोरस परिक्लीज़ के ही समकालीन थे।

परिक्लीज़ के अंतिम काल तक एक यूनानी तत्ववेत्ता की प्रसिद्धि होने लगी थी जिसे विज्ञान का आदि गुरु मानते हैं। इस तत्ववेत्ता का नाम था सुक़रात। सुक़रात का ढंग था लोगों से प्रश्न करना और यों सत्य की खोज के लिए प्रयत्न करते रहना। उसकी प्रश्न प्रणाली ने बहुत से अंध-विश्वासों को मिट्टी में मिला दिया। शासकों का इक़बाल भी बहुत कुछ जनता के अंध-विश्वास पर ही क़ायम रहता है। उन्हें सुक़रात एक विद्रोही के रूप में दिखाई दिया और उन्होंने उसे प्राण-दंड देकर उसके द्वारा जगाई हुई वैज्ञानिक खोज के अंकुर को नष्ट करना चाहा, परंतु वे सफल नहीं हुए। सुक़रात अपने नश्वर शरीर से मुक्त हुआ, परंतु उसका शिष्य अफ़लातून विज्ञान की ज्योति जगाये रहा। उसने राजनीति पर कई ग्रंथ लिखे जिनका मान अब तक है। अरस्तू अफ़लातून का शिष्य था और विजयी सिकंदर का गुरु था। वह तर्कशात्र का विधाता माना जाता है। राजनीति पर भी उसने मनन किया और अपने शिक्षालय लीसियम में उसने १५८ देशों के शासन विधानों के विषय में खोज कराई।

अरस्तू के पश्चात् महान् सिकंदर की बदौलत यूनानी पताका पूर्व में तुर्किस्तान तथा भारत तक और दक्षिण में मिस्र तक पहुँची। यूनानी दार्शनिकों और शिल्पकारों का प्रभाव इन सब देशों पर पड़ा। परंतु

अपनी जन्मभूमि में नागरिक स्वतंत्रता के साम्राज्यलिप्सा से दब जाने पर यूनानी मस्तिष्क की मौलिक सृष्टि क्षीण होने लगी। सिकंदर की मृत्यु के २०० वर्ष के भीतर यूनानी नगर अपनी रही-सही स्वतंत्रता खोकर रोमन साम्राज्य के भीतर आ गये।

रोम की यूनान पर विजय अवश्य हुई और यूनानी साहित्य की सृष्टि होना बंद हो गई, परंतु साहित्य की रक्षा होती रही और यूनानी संस्कृति का प्रचार रोमन साम्राज्य के सभी भागों तक पहुँचा। रोमन साम्राज्य के नेता वीर थे, नीति कुशल थे; परंतु न तो लैटिन भाषा उतनी उन्नत थी, न उनका साहित्य। इसलिए यूनानी स्वतंत्रता का अंत होकर भी साहित्य की रक्षा होती रही। नील नदी के मुहाने पर सिकंदर ने अपने नाम से सिकंदरिया नामक नगर बसाया था। यहाँ एक विशाल पुस्तकालय स्थापित किया गया, जिसमें यूनानी विज्ञान और साहित्य की रक्षा और विस्तार का सिलसिला ९ सौ वर्ष तक चलता रहा और जिसका अंत वहाँ तक इस्लाम की पताका पहुँचने पर ही हुआ।

आर्यों की रोम में बसी हुई बस्ती ने स्वतंत्रता और विज्ञान की उतनी सेवा नहीं की, जितना उसने मनुष्य-समाज को शासन का मार्ग दिखाया। अब से लगभग सत्ताइस सौ वर्ष हुए जब कुछ आर्यों ने टाइबर नदी के किनारे अपने नेता रोमुलस के नाम पर रोम नगर स्थापित किया। तब किसे अनुमान था कि इतने दीर्घकाल के असंख्य परिवर्तनों के होते रहने पर भी रोम का नाम आधुनिक काल तक बना रहेगा। बढ़ते-बढ़ते इस नगर के नागरिक भूमध्यसागरवर्ती सब देशों के शासक हो गये और उनकी सत्ता ब्रिटेन के उत्तरी भाग तक पहुँची। शासन-विधान में परिवर्तन हुआ, नागरिकों के हाथ से शासन की बागडोर निकलकर स्वेच्छाचारी सम्राटों के हाथ आई। अंतिम सम्राटों ने रोम को छोड़ एशिया और योरप के संगम पर स्थित प्राचीन बैज़िंटियम को कुस्तुनतुनिया का नाम देकर अपनी राजधानी बनाया और रोम का पतन दिखाई देने लगा, परंतु रोम का

अस्तित्व बना रहा। सम्राट ने उसे छोड़ा तो ईसाई-धर्म के प्रधान गुरु ने उसे अपनाया। रोमन साम्राज्य का अंत हो गया। रोम की नैतिक सत्ता का अंत हो गया, परंतु इसकी धार्मिक-सत्ता आज तक क़ायम है। रोम का इक़बाल इतना ज़बरदस्त था कि योरप के माध्यमिक काल में भी लोगों के हृदय से रोमन सत्ता का सुख स्वप्न नहीं हटा। होली रोमन साम्राज्य की स्थापना हुई, जिसका रोम से कोई संबंध न था। नेपोलियन द्वारा इसका अंत होने के साथ-साथ इटली की स्वतंत्रता की बुनियाद भी पड़ी। रोम फिर स्वतंत्र हुआ। उसको पुनर्जीवन मिला और आधुनिक काल में उसके तानाशाह मुसोलिनी की रोमन साम्राज्य को पुनर्स्थापित करने की असफल चेष्टा के परिणाम में रोम और इटली पर फिर परतंत्रता की मुसीबत पड़ गई है।

इस रोमन बस्ती के स्थापित होने के कई सौ वर्ष तक इसके अस्तित्व का सभ्य संसार को पता न था। रोम के नागरिकों की शासन-व्यवस्था लगभग वैसी ही थी जैसी कि यूनानी नगरों की। कुछ नागरिक ऊँचे घराने के थे; ये पैट्रिशियन थे। बाक़ी निम्न घराने के थे; ये प्लीबियन थे। शासन की बागडोर पैट्रिशियन घरानों के हाथ में थी। इनके अतिरिक्त नगर के भीतर दास भी थे। परंतु उनके साथ उस निर्दयता का व्यवहार न था जो पड़ोसी फ़िनीशियन नगर कार्थेज के दासों के हिस्से में था।

धीरे-धीरे रोम के नागरिकों ने इटली की भूमि पर अधिकार कर लिया। इटली और कार्थेज के बीच सिसली के टापू पर अधिकार करने के प्रयत्न में कार्थेज से इनकी लड़ाई हो गई, जिसके परिणाम में कार्थेज नष्ट हो गया और रोमन सत्ता को बढ़ने का निष्कंटक मार्ग मिल गया।

रोमन शासकों ने अपना साम्राज्य बढ़ाकर रोम के बाहर बसी हुई प्रजा को भी नागरिकता के अधिकार दे दिये थे, परंतु प्रतिनिधि प्रणाली का उस समय तक आविष्कार नहीं हुआ था, इसलिए रोम से दूरवर्ती

रोमन नागरिकों को शासन-कार्य में योग देने का मौक़ा नहीं मिला। जब कभी कोई साधारण नागरिकों की संस्था सेना के सहारे साम्राज्य स्थापना की आकांक्षा करती है तो उस संस्था का अंत हो जाता है, और शासन की बागडोर सेनानायक के हाथ में पहुँच जाती है। यही हाल रोमन शासन-संस्था का हुआ। साम्राज्य-विस्तार के साथ रोमन संस्था की शक्ति घटती रही और सैनिक नेताओं की उसी हिसाब से बढ़ती रही। अंत में जूलियस सीज़र नामक नेता ने मिस्र की सैर करने के बाद जहाँ के सम्राट बिलकुल स्वेच्छाचारी हुआ करते थे, स्वयं उसी पद पर पहुँचना चाहा; परंतु रोमन सिनेट में अब भी कुछ ऐसे नेता थे जो इस बिद्दत को बरदाश्त न कर सकते थे। उन्होंने जूलियस सीज़र की हत्या कर डाली।

परंतु स्वेच्छाचारी शासन का सिलसिला शुरू हो चुका था। हत्या होने पर भी जूलियस का पक्षपाती आक्टोवियस गृहयुद्ध में सफल हुआ और आगस्टस (२७ ई० पू०—१४ ई०) के नाम से रोमन साम्राज्य का प्रथम स्वेच्छाचारी सम्राट हुआ।

यह स्वेच्छाचारी साम्राज्य बहुत से परिवर्तनों और विप्लवों की चोटें खाकर भी ईसा की पाँचवीं शताब्दी के मध्यकाल तक रहा। हूणों के जिस आक्रमण ने गुप्त साम्राज्य का अंत किया उसने रोमन साम्राज्य को भी छिन्न-भिन्न कर दिया।

लगभग पाँच सौ वर्ष तक रोमन सत्ता ने भूमध्यसागरवर्ती देशों को एक सूत्र में बाँधकर मानव-समाज की क्या सेवा की, इसका उल्लेख करना आवश्यक है।

इस दीर्घ काल के अधिकांश में रोमन साम्राज्य स्वेच्छाचारी रहा, परंतु रोमन शासन की नींव प्रजासत्तात्मक संस्थाओं पर थी। ये संस्थाएँ शासकवर्ग पर नियंत्रण रखने के लिए और सामाजिक व्यवस्था को नियमित करने के लिए क़ानून बनाया करती थीं और इन क़ानूनों द्वारा ही उनकी अदालतों में मुक़दमों के फ़ैसले हुआ करते थे। शासन की बागडोर स्वेच्छाचारी सम्राटों के हाथ पहुँचने

पर भी क़ानूनी शासन का सिलसिला जारी रहा। भारतीय आर्यों की ग्रामीण गोष्ठियों पर साम्राज्यों के जब भव्य प्रासाद बने तो गोष्ठियों का अस्तित्व बना रहा, और यद्यपि शासक वर्ग पर किसी प्रजासत्तात्मक संस्था का नियंत्रण नहीं रहा, परंतु सम्राटों ने परंपरा की रक्षा करने का प्रयत्न किया। भारत में परिपाटी का शासन रहा। रोमन साम्राज्य ने क़ानूनी शासन की व्यवस्था की। इस व्यवस्था का सिलसिला टवेल्व टेबुल्स से कोड आफ़ जस्टिनियन तक चलता रहा। रोमन साम्राज्य का अंत होने पर भी योरप में उसके खंडहर पर जो राज्य स्थापित हुए उन्होंने रोमन क़ानून का ही पल्ला पकड़ा। योरप की सामाजिक व्यवस्था की बुनियाद में रोमन क़ानून का बहुत कुछ अंश है।

साम्राज्य शासन के लिए मार्गों को सुगम बनाना बहुत आवश्यक है। रोमन शासकों का सड़कों और पुलों के बनाने में अग्रगण्य स्थान है। यों तो योरप में समुद्र और नदी के प्राकृतिक मार्ग बहुत कुछ सुलभ हैं; रोमन इंजीनियरों ने सड़कें बना कर ये मार्ग और भी सुलभ कर दिये। रोमन सेनाएँ इन सड़कों की सहायता से ही सुदूर प्रांतों के विद्रोहों को शांत कर सकती थीं। परंतु ये सड़कें सेनाओं और रोमन शासकों के लिए ही नहीं थीं। इनके द्वारा योरप निवासियों को एक दूसरे से मिलने का अवसर बढ़ गया। यूनान की कला-कौशल तथा विज्ञान और रोम का क़ानून, दोनों इन मार्गों द्वारा ही रोमन साम्राज्य में व्याप्त हुए। यों यूनानी इल्म और रोमन क़ानून की सहायता से उस सभ्यता की बुनियाद पड़ी जिसे योरपीय सभ्यता कहते हैं।

रोमन साम्राज्य के नागरिकों को राजनैतिक स्वतंत्रता छोड़ कर सब स्वतंत्रता प्राप्त थी। यूनानी विद्या और कला का प्रचार होने में कोई बाधा न थी। रोमन शासकों ने कुछ समय तक ईसाइयों पर अत्याचार अवश्य किया, परंतु यह अत्याचार अधिक नहीं चल सका, क्योंकि इन शासकों का अपना कोई धर्म न था। वे केवल यही चाहते थे कि ईसा के उपदेश से रोमन नागरिकों की राजभक्ति को कोई धक्का

न पहुँचे। धीरे-धीरे ईसाई पादरियों ने राजसंस्था से समझौता कर लिया और रोमन सम्राट स्वयं ईसाई धर्म में दीक्षित हुए। कई सौ वर्ष तक योरप में ईसाई धर्म का प्रचार रोमन सम्राटों के ही संरक्षण में हुआ। इस धर्म प्रचार ने योरपीय सभ्यता में धार्मिक एकता की जो कमी बाक़ी रह गई थी, वह भी पूरी कर दी। रोमन साम्राज्य का अंत होने पर योरप की सांस्कृतिक एकता का पोषण सैकड़ों वर्ष तक ईसाइयों की उस धार्मिक संस्था द्वारा ही होता रहा, जिसका केंद्र अब भी रोम में है।

इतना होते हुए भी योरपीय सभ्यता पर धार्मिकता का आवरण-मात्र है। उसके हृदय में यूनान की भौतिक विज्ञान में लगन, शारीरिक सुख-सौंदर्य की लिप्सा और ऐहिक ऐश्वर्य की महत्वाकांक्षा ही है। उसमें वह सात्विकता नहीं है जिसका उपदेश बुद्ध और ईसा ने दिया। एक हज़ार वर्ष तक ईसाई पादरियों ने यूनानी साहित्य को दबाकर योरपीय सभ्यता की महत्वाकांक्षाओं को सुषुप्त अवस्था में रक्खा। इस्लाम की अंतिम चोट खाकर यूनानी विद्या जब कुस्तुंतुनिया का कोट छोड़कर योरपीय सभ्यता के केंद्रों में आई, तब योरपीय सभ्यता की जागृति हुई। निश्चित था कि इस जागृति का रुख़ यूनानी और रोमन विचारों के अनुकूल होता। धार्मिक रूढ़ियों के प्रति वही संदेह, साहित्य और कला के प्रति वही उमंग, नवीन देशों की वही खोज, ऐहिक ऐश्वर्य की वही महत्वाकांक्षा।

तुलना कीजिए आर्य सभ्यता के उस रुख़ से जो उसने भारत में पकड़ा। आर्य हृदय यहाँ भी महत्वाकांक्षी था। परंतु इस महत्वाकांक्षा की नीति धर्म प्रचार में ही थी। मनुष्य में मनुष्यता आवे, यही उसका लक्ष्य था। तुलना कीजिए अशोक की उसके समकालीन यूनानी सम्राटों से। क्या भारतीय आर्यों ने अन्य देशों की खोज नहीं की? अशोक के समय से पूर्व से पश्चिम तक सभ्य संसार का कोई भाग न था जहाँ बौद्ध भिक्षु न पहुँचे हों। परंतु किसलिए? धर्म-विजय के उद्देश्य से, मनुष्य के कल्याण के लिए। गुप्तकाल में जब हिंदू सभ्यता

ने ऐहिक महत्वाकांक्षा का कुछ रंग पकड़ा। तब भी भारतीय व्यापारियों और धर्म प्रचारकों ने एशिया के पूर्वी प्रदेशों और द्वीपों में भारतीय सभ्यता का ही प्रचार किया; किसी भारतीय सम्राट का प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा नहीं की। एक हजार वर्ष बाद योरपीय सभ्यता की जागृति के साथ-साथ जब भारतीय सभ्यता की भी जागृति हुई, तो उसका रुख फिर भी धार्मिक सहनशीलता की ओर था। अकबर की तुलना समकालीन योरपीय शासकों से कीजिए। तत्कालीन योरपीय साहित्य के ढंग को हिंदी साहित्य की उच्चतम कृतियों से मिलाइए। दोनों में वही आंशिक भेद है जो प्राचीन यूनानी और भारतीय सभ्यताओं के बीच था।

अब तो भारत ही योरपीय सभ्यता के वश में है। क्या पराजित होकर भी भारतीय सभ्यता का योरपीय सभ्यता से समझौता हो सकेगा? उत्तर समय के हाथ में है। कदाचित् अपने बनाये हुए अस्त्रों की चोट खाकर योरपीय सभ्यता को भारतीय सभ्यता की कोर में ही सच्ची शांति प्राप्त हो सके।

---

४. मध्यकालीन संसार

ईसा की पाँचवीं शताब्दी के प्रारंभ में सभ्य संसार में दो बड़े-बड़े साम्राज्य थे रोमन साम्राज्य योरप तथा पश्चिमी एशिया में और गुप्त साम्राज्य भारत में। ईसा की तीसरी शताब्दी के प्रारंभ तक चीन साम्राज्य का प्रभुत्व हान वंश के सम्राटों के शासन में बढ़ा हुआ था। उन्हीं के शासनकाल में रोम और चीन का उस मार्ग से संपर्क हुआ जो मंगोलिया, तुर्किस्तान और उत्तरी ईरान होता हुआ कुस्तुनतुनिया में योरपीय देशों से मिलता है। हान वंश के नष्ट होने पर तीन सौ वर्ष से अधिक चीन की बहुत बुरी दशा रही। रोमन तथा गुप्त साम्राज्यों का अंत पाँचवी शताब्दी के भीतर ही हो गया, और हूण ही दोनों के विनाशकारी हुए।

हूण मध्य एशिया की उसी बर्बर जाति के थे, जिसके कारण चीन की दुर्दशा दो सौ वर्ष पहले से ही थी। पाँचवीं शताब्दी में उनके भारत और योरप की ओर झुकने पर गुप्त और रोमन साम्राज्यों की वही दशा हुई।

हूणों के विनाशकारी आक्रमणों ने तत्कालीन संसार की सामाजिक और धार्मिक स्थिति में जो क्रांति कर दी वह राजनैतिक क्रांति से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। छठी शताब्दी में प्रशांत महासागर से अटलांटिक महासगर तक कहीं भी कोई शक्तिशाली साम्राज्य न था। प्रत्येक देश छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था जो आपस में लड़ा करते थे। जगह-जगह विदेशी जातियों के लड़ाके बस गये थे जिनके धार्मिक विश्वास और आचार-विचार वहीं के रहने वालों से बहुत भिन्न थे। इनके कारण जो क्रांति हुई उनसे धार्मिक क्षेत्र में इस्लाम का प्रचार हुआ और सामाजिक क्षेत्र में सांमत प्रथा ने उन्नति की।

बौद्ध-धर्म ने विभिन्न धार्मिक विश्वासों से समझौता करते-करते अपने वास्तविक रूप की महत्ता को बहुत कुछ खो दिया था। बौद्ध धर्म अब बुद्ध की पूजा तक रह गया था और उसके पुरोहित अब उतने ही दुश्चरित्र हो गये थे, जितना उनके धार्मिक विश्वास कलुषित हो गये थे। ऊँच-नीच का भेद बढ़ गया था, दास प्रथा अपने पुराने ढर्रे पर आ गई थी। स्वर्ग का द्वार केवल उन्हीं के लिए खुला था जिनके पास यथेष्ट धन था, जो शक्तिशाली थे। ऐसी परिस्थिति में अरब की मरुभूमि पर एक महात्मा ने जन्म लिया जिसका नाम मोहम्मद था।

अरब के लोग प्राचीन फ़िनीशियन व्यापारियों के वंशज थे। मरुभूमि में रहकर लूट-मार करना उनका प्रधान व्यवसाय था और समुद्र के किनारे बसे हुए वे भूमध्यसागर से चीन सागर तक व्यापार करते थे। इनमें ऊँच-नीच का बहुत भेद था। मूर्तियों और उनके पुजारियों में अरबों का विश्वास था। काबा के काले पत्थर में उनकी असीम श्रद्धा थी।

यहूदियों और ईसाइयों के धार्मिक विश्वास से मोहम्मद परिचित तो थे ही, उन्होंने यहूदी पैग़ंबरों और ईसा की अवहेलना नहीं की, परंतु उन्होंने अपने तईं ईश्वर का अंतिम रसूल घोषित किया। उन्होंने प्रचलित कुरीतियों और आडंबरों का विरोध किया। अल्लाह और और उसके रसूल पर विश्वास करने का आदेश दिया। उन्होंने कहा कि अल्लाह की नज़र में उसके मानने वाले (मुस्लिम) सब बराबर हैं। ग़रीब को ख़ुदा की रहमत उतनी ही नसीब है जितनी कि अमीर को।

यों तो मोहम्मद के पहले भी उपदेशकों ने मानव-जाति को इंसानियत का उपदेश दिया था, परंतु मोहम्मद पहले उपदेशक थे जिन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि अहल-इस्लाम एक दूसरे के बराबर हैं। आजकल राजनैतिक क्षेत्र में प्रजासत्तात्मक शासन 'डेमोक्रेसी' की बहुत धूम है, परंतु स्मरण रहे कि धार्मिक क्षेत्र में इसके पहले प्रवर्त्तक मोहम्मद पैग़ंबर ही थे।

आडंबरों से जकड़े हुए दलित मनुष्य समाज पर मोहम्मद के सादे परंतु दिव्य और आशाजनक उपदेश का प्रभाव कितना पड़ा होगा इसका अनुमान यों लगाया जा सकता है कि मोहम्मद के देहांत (सन् ६३२ ई०) के सौ वर्ष के भीतर इस्लाम का झंडा स्पेन से तुर्किस्तान तक पहुँच गया। मरक्को से मिस्र तक उत्तरी अफ़्रीका के सब देशों ने इस्लाम को क़बूल किया और अरब से इराक़, फ़ारस, अफ़ग़ानिस्तान और तुर्किस्तान तक के निवासी मुस्लिम हो गये। इस्लाम की इस लहर का भारत पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा, परंतु सिंध तक तो अरब पहुँच ही गये और मलाबार तथा कोंकण तक इस्लाम का संदेश पहुँचने पर प्रचलित हिंदू धर्म के विश्वासों पर भी क्रांतिकारी प्रभाव पड़ा।

इस्लाम के अरब प्रचारकों की विजय का कारण उनकी तलवार न थी। यह ठीक है कि धार्मिक जोश ने उन्हें संगठित कर दिया था, परंतु उनकी संख्या ही कितनी थी जो वे इतनी विजय प्राप्त कर पाते।

उनकी विजय का कारण था उनका संदेश, जो उनके दुश्मनों के घर में ही फूट पैदा कर देता था, जिसे पाकर आक्रांत देशों की दलित प्रजा ही विजयी अरबों का नेतृत्व मानने के लिए तैयार हो जाती थी। इस्लाम स्पेन से योरप के अन्य पश्चिमी देशों पर भी फैल जाता यदि फ्रांस, जर्मनी और इटली के तत्कालीन राजे मार्टेल के नेतृत्व में मिलकर फ्रांस के टूर्स नामक स्थान पर इस्लामी सेनाओं को हरा न देते। आगे चलकर अरबों के उत्तराधिकारी तुर्क सम्राटों ने ईसाइयों की पवित्र भूमि फ़िलस्तीन को स्वतंत्र करने के लिए कई धर्म युद्ध (क्रूसेड) किए, परंतु सफल न हो सके। उलटे पंद्रहवीं शताब्दी के मध्यकाल तक रोमन साम्राज्य की पूर्वी राजधानी कुस्तुनतुनिया पर इस्लामी अधिकार हो गया और योरप के बालकन प्रदेश भी तुर्क सम्राट के संरक्षण में आ गये। उस समय तक भारत के अधिकांश भूभाग पर मुसलमान शासकों का प्रभुत्व हो गया था और मलय द्वीपों के बहुत से निबासी मुसलमान हो चुके थे।

इस्लाम का इतना प्रचार होकर भी यह कहना ठीक न होगा कि कभी भी इस्लामी देश एक राजनैतिक सूत्र में संगठित रहे हों। पैग़ंबर के देहांत के कुछ ही समय बाद से गृहयुद्ध प्रारंभ हो गये। ख़िलाफ़त के लिए दो दल हो गये, जिनके माननेवालों में अब भी पारस्परिक वैमनस्य रहता है। इस्लाम की सादगी और इस्लामी बराबरी का कुछ समय के भीतर दिखावा ही रह गया। ख़लीफ़ा उसी विलासिता में पड़ गये जो रोमन और ईरानी सम्राटों के हिस्से में थी। उनके अरब अफ़सर भी आरामपसंद हो गये। धीरे-धीरे शासनसत्ता उनके हाथ से निकल कर उनके तुर्क सेनानायकों के हाथ आई और अरब तुर्क समाटों के अधीन हो गये। तुर्क सिपाही थे, उन्हें विद्या क़ला से प्रेम न था। व्यापार में भी उनकी रुचि न थी, इसलिए तुर्कों ने धार्मिक मामलों में अरब मुल्लाओं की अधीनता स्वीकार कर ली और आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यूनानी और यहूदी व्यापारियों के अधीन हुए।

तुर्कों के मुक़ाबले अरब बड़े विद्याव्यसनी थे। उस युग में जब योरप पर धार्मिक अंध-विश्वास का पर्दा पड़ा था, अरबों ने ही यूनानी विज्ञान को जाग्रत रक्खा। व्यापार के कारण उनका संपर्क चीन और भारत से भी था। तत्कालीन सभ्य संसार के ज्ञान भंडार से अरबों ने अपने साहित्य को यथाशक्ति पोषित किया। बग़दाद, कूफ़ा, क़ाहिरा और कर्तबा के विश्वविद्यालय अरबी विज्ञान और साहित्य के केंद्र थे। यदि अरबों की राजसत्ता शीघ्र न घटती तो पंद्रहवीं शताब्दी की जागृति के नेता अरब ही होते।

तेरहवीं शताब्दी में मंगोलिया की मरुभूमि में बसे हुए मुग़लों के दलों ने चंगेज़ ख़ां के नेतृत्व में चीन पर एक ओर आक्रमण किया और योरप में जर्मनी और आस्ट्रिया तक की दौड़ लगाकर उस भूभाग पर अधिकार किया जिसे रूस कहते हैं। लोहे की बौछार और लड़ाके की प्रगति पर ही लड़ाई का फ़ैसला होता आ रहा है। मुग़ल कुशल घुड़सवार थे—घुड़सवार क्या थे, घोड़ा उनके जीवन का अंग ही था। साथ ही साथ उन्होंने चीनियों से बारूद का प्रयोग भी सीख लिया था और उसकी सहायता से लोहे की बौछार करने का उन्हें एक ढंग मालूम हो गया था, जिसके विकास ने संसार के इतिहास पर बहुत भारी प्रभाव डाला है। जिन तुर्कों का इराक़ और अरब की ख़िलाफ़त पर अधिकार करने का उल्लेख हो चुका है उन्होंने मुग़लों के हमलों से भागकर ही इन भागों पर अधिकार किया था।

इस्लाम का विशेष संपर्क दो ही धार्मिक विश्वासों से रहा। योरप में ईसाई धर्म से और भारत में हिंदू संप्रदायों से। इस्लाम चीन तक पहुँचा अवश्य, परंतु वहाँ उसका विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। इस्लाम के योरप पहुँचते समय तक ईसाई धर्म विशेष रूप से संगठित हो चुका था। उसका पुरोहित वर्ग प्रधान गुरु से, जो रोम का पोप था, देहातों के पादरियों तक श्रेणी-बद्ध हो चुका था। धर्म के नियम बन चुके थे और ये नियम भी उस समाज के अनुकूल थे जो सामंत-प्रथा से श्रेणीबद्ध हो चुका था। इस ईसाई धर्म का इस्लाम से विरोध होना

आवश्यक था। संपर्क से एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ना दूर रहा, दोनों की पारस्परिक असहनशीलता बढ़ गई। इस्लाम ने यूनानी विज्ञान को अपनाया तो ईसाई समाज ने उसका तिरस्कार किया। इस्लाम ने धार्मिक विश्वासों की ओर सहनशीलता दिखाई तो ईसाई धर्म के प्रचारकों ने योरपीय समाज पर अपने प्रभुत्व को स्थापित रखने का भरसक प्रयत्न किया और संगठन के बहाने वैज्ञानिक और राष्ट्रीय जागृति की राह में अड़ंगे लगाते रहे। इसीलिए उस युग में जब योरप के बाहर अफ्रीका से चीन तक विद्या का विकास हो रहा था, योरप पर अंधकार का परदा पड़ा रहा।

भारत में भी इस्लाम का ऐसे धर्म से सामना हुआ जिसका उससे आंशिक विरोध था, परंतु यहाँ के धार्मिक और सामाजिक जीवन में इस्लाम के संसर्ग से जागृति ही हुई। हिंदू-धर्म के भीतर ऐसे संप्रदायों ने उन्नति की जिन्होंने जाति-पाँति के भेद का विरोध किया। मूर्तिपूजा के विरुद्ध एक ईश्वर की उपासना का उपदेश दिया और गुरु को पथ-प्रदर्शक मानकर भक्तों को उसके आज्ञानुसार ही चलने का आदेश दिया। तेरहवीं शताब्दी में मुग़ल आक्रमणों से भागकर ईरान और अफ़ग़ानिस्तान के सैकड़ों सूफ़ी पीर भारत के गाँव गाँवों में बस गये। ईरान में इस्लाम के संसर्ग से सूफ़ी मत का जन्म हुआ था, जिसके सिद्धांतों में भारतीय भक्तिमार्ग के सिद्धांतों से अधिक विरोध न था। इसलिए भारतीय श्रोताओं को उनके उपदेशों में अपने देश के ही प्राचीन धार्मिक विचारों की गूँज सुनाई दी और उनके शिष्य यों ही धीरे-धीरे मुसलमान हो गये। भारत में इस समय जो मुसलमान हैं, उनमें से अधिकांश के पूर्वज यों ही, बिना हिंदू-धर्म से विरोध का खयाल किये हुए, मुसलमान हुए थे। तलवार के जोर से उनका मुसलमान बनाया जाना कोरी मन-गढ़ंत है।

इसी युग में योरप से भारत तक जिस सामंत-प्रथा का प्रचार हुआ, उसका किस प्रकार प्रादुर्भाव हुआ, उसका रूप क्या था

और आधुनिक सभ्यता से उसका क्या संबंध है, इसका समझना भी आवश्यक है।

प्राचीन समाज श्रेणीबद्ध था। भारत में चार वर्ण थे; पहले तीन वर्ण द्विज थे; वे आर्य-वर्ण के भीतर थे; चौथे वर्ण की दासवृत्ति थी; उसका काम तीनों वर्णों की सेवा करना ही था। रोमन साम्राज्य के भीतर भी समाज श्रेणीबद्ध था। कुछ वर्गों को रोमन नागरिकता का अधिकार मिला हुआ था। बाक़ी उसके बाहर थे। उनकी भी वृत्ति दासता की थी। भेद केवल इतना था कि भारत में शूद्र ख़रीदे व बेचे नहीं जा सकते थे, वे समाज के आवश्यक अंग माने जाते थे। योरप में उनके साथ पशुवत् व्यवहार होता था।

पाँचवीं शताब्दी में इस समाज के भीतर ऐसी जातियाँ पहुँचीं, जिन्हें उस पर शासन करने का दावा था, परंतु जो सभ्यता में शासित समाज के कहीं नीचे थीं। ये जातियाँ खानेबदोश थीं। इनके वीर सैकड़ों हजारों मील से अपना चलता-फिरता घर छोड़कर इस समाज के बीच पहुँचे थे। इन्हें इस समाज में सम्मिलित करना, उसकी पृथ्वी से बाँध देना आवश्यक था। शासित समाज से उनका सम्मेलन और जिस पृथ्वी पर वे उस समय बसे थे, उससे उनका बंधन उस सामाजिक व्यवस्था के बढ़ने से हुआ जिसे सामंत-प्रथा कहते हैं।

समाज श्रेणीबद्ध था ही, इस समाज की प्रत्येक श्रेणी को पृथ्वी से बाँधने की प्रथा ही सामंत-प्रथा हुई। पृथ्वी उसकी है जो उसे जोते, उससे अन्न पैदा करे। परंतु पृथ्वी का जोतना कठिन काम है। इसलिए विजयी जातियों ने पराजितों को दास बनाकर उनसे यह काम लिया। पहले तो वे बेचे और ख़रीदे जाते थे, परंतु ईसाई-धर्म के प्रभाव से और उपज को क़ायम रखने के लिए भी किसान को अपनी भूमि से हटाना ठीक न साबित हुआ। इसलिए सामंत-प्रथा में दास से एक दर्जा बढ़कर वह 'सर्फ़' हो गया। खेत की उपज उसके हिस्से में थी। उसके बदले अपने ज़मींदार की उसे सेवा करनी पड़ती

थी। इस ज़मींदार के ऊपर बड़े ज़मींदार थे। छोटे ज़मींदार को सामंतों की हैसियत से अपने मालिकों के सैनिक इकट्ठा करके लड़ाई में सहायता देना आवश्यक था। इन बड़े ज़मींदारों के ऊपर राजा होते थे, जिनकी उसी प्रकार सैनिकों से सहायता करना जागीरदारों का कर्तव्य था। राजाओं के ऊपर सम्राट भी हो सकते थे, जिनकी सेना से सहायता करना उसके अधीन राजाओं का कर्तव्य था। इस सामंत-प्रथा का थोड़े बहुत भेद से बहुत काल तक ब्रिटेन से जापान तक पूरे सभ्य संसार में ज़ोर रहा।

समय पाकर इस सामंत-प्रथा में बहुत से दोष आ गये और आधुनिक काल में राष्ट्रीयता की उन्नति ने इसे बहुत कुछ ख़तम कर दिया है। परंतु स्मरण रहे कि आधुनिक राष्ट्रीयता के भाव तक पहुँचने के लिए सामंत-प्रथा की मंज़िल आवश्यक थी।

प्राचीन समाज का संगठन कुल की बुनियाद पर था। एक जाति के स्त्री-पुरुष चाहे कहीं भी बसे हों, एक समाज के भीतर थे। पड़ोस का उतना ख़याल न था। आलिंपिक खेलों में यूनानी ही सम्मिलित हो सकते थे, चाहे वे कितनी ही दूर से आनेवाले हों। आलिंपस के पड़ोस में बसे हुए दासों अथवा पराजितों का कोई हक़ न था। यही हाल भारतीय समाज का था और बहुत कुछ अब भी है।

कालांतर में एक ही भूभाग पर कई जातियाँ बस गईं। अब कुल की बुनियाद पर समाज का संगठन क़ायम रखने में निरंतर अशांति की संभावना थी। इसलिए व्यक्ति का संबंध निवास भूमि से कर देना आवश्यक हो गया। कुल की बुनियाद पर क़ायम समाज एकदम से तो बदला नहीं जा सकता था। इसलिए वह श्रेणीबद्ध कर दिया गया। कालांतर में शिक्षा-प्रचार, व्यापार और कला-कौशल की उन्नति से भूमिपतियों का महत्त्व कम हो गया। परंतु समाज का भूमि से वह प्रेम सम्बन्ध बना रहा, जिसकी बुनियाद सामंत-प्रथा से पड़ी थी। वही प्रेम अब राष्ट्रीयता में परिणत हो गया है, जिसके नाम

पर लाखों करोड़ों वीर और वीरांगनाएँ अपना सर्वस्व निछावर करने के लिये तैयार हैं।

इस मध्ययुग में धार्मिकता के नाम पर सांस्कृतिक एकता का प्रयत्न किया गया, परंतु इस धार्मिकता की आड़ में स्वार्थ की मात्रा अधिक थी, इसलिए सांस्कृतिक एकता की ओर बढ़ते हुए भी समाज में राजनीतिक एकता नहीं आ सकी। योरपीय देशों में ईसाई-धर्म के नेताओं ने पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना करके तथा तुर्कों के विरुद्ध युद्ध करके योरप को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया, परंतु निष्फल रहे। पवित्र रोमन साम्राज्य न कभी पवित्र रहा, न रोमन रहा और न वह कभी साम्राज्य ही हो सका। अधिकतर पोप स्वार्थी थे और धार्मिक प्रभुत्व की आड़ में उन्होंने अपना ऐहिक ऐश्वर्य बढ़ाने की कोशिश की। सामंत-प्रथा के कमज़ोर होने पर उसकी जगह राष्ट्रीयता ने ली, यद्यपि मज़े की बात यह हुई कि सामंतों की शक्ति कम होने पर राष्ट्र-संचालन के अधिकार पहले स्वेच्छाचारी राजाओं के ही हाथ में आये।

भारत और चीन में भी सांस्कृतिक एकता का प्रयत्न किया गया। भारत में इस्लाम के संसर्ग से हिंदू समाज में तो उदारता आ ही गई, इस्लाम पर भी भारतीयता का रंग चढ़ा, यहाँ तक कि बाबर को यहाँ के मुसलमानों में भी हिंदुस्तानियत दिखाई देने लगी। यदि यहाँ राष्ट्रीयता के भाव पुष्ट नहीं हो सके तो उसका एकमात्र कारण यह था कि इस देश में आर्थिक समस्याएँ उतनी कठिन न थीं और धार्मिकता के भीतर इतना अधिक स्वार्थ न था।

इसी काल में चीन और जापान का सांस्कृतिक संगठन हुआ। मुग़ल विदेशियों से स्वतंत्र होकर चीन पर मिंग वंश के राष्ट्रीय सम्राटों का शासन प्रारंभ हुआ, जिनके प्रताप से चीनी सभ्यता का प्रभाव पूर्वी एशिया के देशों से लेकर योरप तक पहुँचा।

इस्लामी देशों की राजनैतिक फूट का उल्लेख हो चुका है। सुल्तान रूम को ख़लीफ़ा बनाकर इस्लामी देशों को एक सूत्र में बाँधने का

प्रयत्न किया गया। मिस्र पर तो नाम मात्र का प्रभाव रहा, परंतु मराक्को और स्पेन ने कभी भी बग़दाद या कुस्तुनतुनिया की ख़िलाफ़त मंजूर नहीं की, और फ़ारस तो शिया होने के कारण तुर्की साम्राज्य से हमेशा अलग रहा। यों इन देशों में भी राष्ट्रीयता को ही बढ़ने का मौक़ा मिला।

सांसारिक सभ्यता का विकास जिस प्रकार मध्ययुग में हुआ, उससे कुछ विद्वान इस युग को सभ्यता का अंधकार मय अंश मानते हैं। परंतु यदि ध्यान से देखा जाय तो जिस राष्ट्रीयता और जन साधारण की सत्ता के ज़माने में हम आजकल हैं, वह जीवन के सब अंशों में सुखदायी नहीं है। धार्मिक आडंबर को हटाकर हम धर्म के विषय में उदासीन ही हो गए हैं। सांसारिक सुख प्राप्त करके भी हमारा जीवन अशांत है। राष्ट्रीयता ने अंतर्राष्ट्रीय कलह को बढ़ा ही दिया है।

यदि मध्यकाल को इस दृष्टि से देखा जाय तो इस समय धर्म के बहाने जिस सांस्कृतिक एकता का प्रयत्न किया गया, वह सर्वथा मान्य थी। आदर्श ऊँचा था, ग्राह्य था। यदि सफलता नहीं हुई तो उसका एक कारण यही था, और अब भी है, कि सभ्यता की इतनी मंज़िल पार करके भी मनुष्य में स्वार्थ का पाशविक अंश विशेष मात्रा में था। गत महान् युद्ध के पश्चात् फिर उसी प्राचीन आदर्श से धार्मिकता को पुनः निकालकर लीग आफ़ नेशंस की स्थापना की गई। परंतु यह संस्था भी असफल रही और उस विकराल युद्ध को न रोक सकी जो योरपीय सभ्यता की विभूतियों को जड़ से नष्ट करते दिखाई देता है।

सामंत-प्रथा में भी समय के फेर से बहुत दुर्गुण आ गये हैं। परंतु सभ्यता के विकास में आधुनिक ऐहिकता की बेरोक होड़ भी बाधक है। समाज को श्रेणीबद्ध करके परंपरा के नाते इस प्रथा ने जिस प्रकार मनुष्य की महत्वाकांक्षाओं को सीमाबद्ध रखने का प्रयत्न किया वह भी सभ्यता के विकास के लिए आवश्यक था।

अंतर्राष्ट्रीय एकता की वेदी पर राष्ट्रीय स्वार्थ को और सामाजिक हित की वेदी पर वैयक्तिक महत्वाकांक्षाओं को निछावर करने का जो असफल प्रयत्न मध्ययुग में किया गया, उसी प्रयत्न की सफलता पर हमारे समाज का भविष्य में भी हित है। यदि यह ठीक है तो मध्ययुग में सभ्यता के विकास में जो प्रयत्न हुए उनके सबक़ पर हमें ध्यान देना आवश्यक है।

---

५. योरपीय सभ्यता की दिग्विजय

योरप पर यूनानी तथा रोमन सभ्यता का क्या प्रभाव पड़ा और फिर धार्मिक नियंत्रण में रहकर किस प्रकार छः सात सौ वर्ष तक योरपीय सभ्यता पर अंधकार का परदा पड़ा रहा, इसका उल्लेख हो चुका है। पंद्रहवीं शताब्दी से हम उस युग में पदार्पण करते हैं जब धार्मिक नियंत्रण क्षीण हो जाता है, प्राचीन सभ्यताओं का प्रभाव योरप में जाग्रत होता है और इस पुनर्जीवित सभ्यता की पूरे संसार पर दिग्विजय होती है।

यूनानी सभ्यता का मूलमंत्र था बौद्धिक स्वतंत्रता, प्रकृति के भेदों की खोज; रोमन सभ्यता का मूलमंत्र था समाज का नियंत्रण। दोनों का उद्देश्य था सांसारिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति, दोनों का ढंग था सात्विक भावों की अवहेलना। ईसाई धर्म के मूल में सात्विकता अवश्य थी, परंतु उस पर रोमन नियंत्रण और महत्वाकांक्षा का ही रंग चढ़ा। ईसाई-धर्म योरप की आत्मा को पवित्र नहीं कर पाया। इधर नियंत्रण के कारण योरपीय समाज पर अंधकार का परदा पड़ा रहा, उधर अरबों ने यूनानियों की वैज्ञानिक खोज को जारी रक्खा। उन्होंने भारत और चीन से भी सीखने का प्रयत्न किया। कितनी साधारण बात है। दशमलव का नियम जिससे हम बड़ी-से-बड़ी संख्या और छोटे-से-छोटे अंश को बहुत साधारण ढंग से लिख सकते हैं और जो तमाम वैज्ञानिक अनुसंधान की जड़ में है, उसे अरबों ने

भारत से सीखा और योरपीय देशों ने अरब से। इसलिए १ से ६ और १० तक के अंक अरेबिक न्यूमरल्स कहलाते हैं।

कालांतर में चीन ने भी कुछ आविष्कार किये थे। काग़ज़ बनाने और छापने की कला का आविष्कार पहले चीनियों ने ही किया था। दिशा-सूचक यंत्र और बारूद के आविष्कारक भी चीनी ही थे। तेरहवीं शताब्दी में मुग़लों ने चीन से जरमनी की सीमा तक अपना राज्य स्थापित किया जिसके कारण चीन का योरप से संपर्क हुआ। छपाई और काग़ज़ के साथ-साथ दिशासूचक यंत्र तथा बारूद के आविष्कार भी चीन से योरप तक आये। एक ने विज्ञान और शिक्षा के साधनों को साधारण जनता तक पहुँचाया, दूसरे ने रोमन और यूनानी सभ्यता के योरपीय उत्तराधिकारियों को पूरे संसार पर अपनी दिग्विजय करने का मौक़ा दिया।

यों तो जागृति के लक्षण तेरहवीं, चौदहवीं शताब्दी से प्रारंभ हो गये थे, परंतु पंद्रहवीं शताब्दी से ये लक्षण साफ़ तौर से प्रकट होने लगे।

कुस्तुनतुनिया यूनानी विद्या का प्रधान केंद्र रह गया था। चारों ओर तुर्क मुसलमानों का शासन हो गया था, जिन्हें वैज्ञानिक खोज अथवा साहित्य सेवा की ओर रुचि न थी। सन् १४५३ ई० में तुर्कों का कुस्तुनतुनिया पर अधिकार होने पर वहाँ के यूनानी विद्वानों और वैज्ञानिकों को इटली की शरण लेनी पड़ी। जिस देश से धर्मांधता का नियंत्रण सभ्य योरप पर होता था, वहीं नई जागृति प्रारंभ हुई।

इस जागृति के दो रूप हैं। एक है वैज्ञानिक रूप, जिसने प्रचलित धार्मिक विश्वासों पर कुठाराघात किया और योरपीय विद्वानों को वैज्ञानिक आविष्कारों का मार्ग दिखाया। दूसरा है धन की आकांक्षा लेकर नये-नये देशों की खोज, जिसने योरप को नये देशों पर अधिकार करने और पुराने देशों पर अपनी सभ्यता का आतंक जमाने का अवसर दिया।

जागृति के वैज्ञानिक रूप के प्रसार होने में काग़ज़ और छपाई के आविष्कार ने बहुत सहायता दी। उस समय तक पुस्तकें अप्राप्य थीं। थोड़ा बहुत साहित्य लैटिन भाषा में था। देशी भाषाओं में साहित्य नहीं के बराबर था। पादरियों को छोड़कर बाक़ी जनता निरक्षर थी। उसे उन्हीं की बात पर विश्वास करना पड़ता था। छपाई और काग़ज़ ने पुस्तकें सुलभ कर दीं। अब बाइबिल प्रत्येक मनुष्य अपनी भाषा में ही पढ़ सकता था। बाइबिल पढ़ने से पादरियों के स्वार्थपूर्ण आदेशों पर अविश्वास हुआ। रोमन कैथोलिक चर्च का विरोध हुआ, प्रोटेस्टेंट मत की स्थापना हुई। अन्य मतों का प्रचार भी हुआ। पहले बहुत पारस्परिक विरोध रहा। एक ने दूसरे पर बहुत अत्याचार किया। परंतु वैज्ञानिक खोज बढ़ती गई। ऐहिक सुख की सामग्री भी बढ़ती गई। धीरे-धीरे विज्ञान की पूजा होने लगी। धर्म की ओर से योरपीय उदासीन हो गये। यही धार्मिक सहनशीलता का आधुनिक रूप है।

योरप की भूखी जातियों को जिस धन के प्राप्त करने की लालसा थी वह भारत का ही था। भारत और चीन के अतुल धन की कहानियाँ घर-घर मशहूर थीं। भारत के तैयार माल की योरप में बहुत खपत थी। इस माल के बदले योरप सोना भेजता था। यों भारत सोने की भूमि हो गई थी। उस समय योरप के वेनिस नगर के हाथ भारत का व्यापार था। अन्य योरपीय देशों को इस व्यापार पर अधिकार करने की लालसा हुई।

इन योरपीय देशों में सबसे आगे स्पेन और पुर्तगाल के देश थे। ये देश पंद्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ में ही अरब शासन से स्वतंत्र हुए थे। भारत से व्यापार के जो मार्ग थे वे तुर्की और मिस्र से होकर थे। ये देश मुसलमानों के अधिकार में थे और इन्हें इस व्यापार से बहुत लाभ था। नई स्वतंत्रता प्राप्त किए हुए स्पेनी और पुर्तगाली वीर भारत का नया मार्ग ढूँढ़कर अपना लाभ तो करना ही चाहते थे, अपने वैरी मुसलमानों को हानि पहुँचाना भी उनका

उद्देश्य था। संसार के गोल होने का विश्वास पक्का हो चुका था। भारतीय धन और ऐश्वर्य की लालसा ने इन वीरों को अब सागर-मंथन का कलियुगी संस्करण करने पर उतारू किया।

कोलंबस पहला अन्वेषक था। वह निकला भारत खोजने परंतु पहुँचा एक ऐसे देश के किनारे जिसका सभ्य संसार को पता न था। भारत योरप में इंडीज़ अथवा इंडिया के नाम से मशहूर था; इसीलिए इस नये देश के नामों में भारत और भारतीय धन की खोज के संस्मरण मिलते हैं। जिन द्वीपसमूह के किनारे कोलंबस लगा था उन्हें वेस्ट इंडीज़ कहते हैं। अमरीका में एक प्रांत है जो इंडियाना कहलाता है। उत्तरी अमरीका के मूल निवासी रेड इंडियन कहलाते हैं।

सात वर्ष बाद अफ़्रीका का चक्कर काटकर पुर्तगाली वास्कोडागामा ने भारत का समुद्री मार्ग ढूँढ़ निकाला। २० वर्ष के भीतर स्पेन और पुर्तगाल के अन्वेषक चीन और जापान तक पहुँचे। मेगलन के नेतृत्व में उन्होंने संसार की परिक्रमा तक कर ली।

इस सागर-मंथन के नेता स्पेनी और पुर्तगाली ही थे। इसलिए पहला इनाम इन्हीं को मिला। नई दुनिया के महाद्वीप जो अमरीका के नाम से प्रसिद्ध हुए, बहुत कुछ असभ्य थे। इनमें आबादी भी कम थी। इनका बहुत कुछ भाग स्पेन के हाथ आया। पुर्तगाली भारत और चीन की ओर झुके थे, जहाँ की घनी आबादी और पुरानी सभ्यता ने उन्हें व्यापार का अवसर दिया। दोनों देश मालामाल हो गये। पोप ने इन दोनों के बीच दुनिया का हिस्सा-बाँट भी कर दिया।

स्पेनियों और पुर्तगालियों को इस्लामी शासन से स्वतंत्र हुए थोड़ा ही समय हुआ था; इसलिए उन्हें धन के साथ-साथ किसी न किसी प्रकार अपना धर्म-प्रचार करने का अरमान भी था, उन्हें दीन और दुनिया दोनों की फ़िक्र थी। कुछ समय तक तो ये
रहे, परंतु थोड़े ही समय के भीतर योरप में ऐसी जातियाँ भी

आई जिन्हें दीन की उतनी फ़िक्र न थी जितनी कि दुनिया की। ये जातियाँ थीं अंग्रेज़ और डच।

अंग्रेज़ उस भूमि के निवासी हैं जो योरप में है और उससे अलग है, जो अब तक सभ्य संसार के कोने में था और जो नई दुनिया की खोज होने पर असभ्य और सभ्य संसार के बीच में आ गया। डच उस नीचे मैदान के निवासी हैं जो उत्तरी योरप के मैदान की प्रधान नदी राइन के मुहाने पर है। प्राचीन काल से व्यापार इनका प्रधान व्यवसाय रहा। पोप की सत्ता का जब जरमनी के मार्टिन लूथर नामक पादरी ने विरोध किया तो डचों ने उसका साथ दिया। उस समय इन पर स्पेन का राज्य था। डचों ने धार्मिक स्वतंत्रता पाकर स्पेन से लोहा लिया और राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त कर ली।

इधर अंग्रेज़ भी डचों की भाँति पोप के धार्मिक शासन से स्वतंत्र हो गये। स्पेन ने उन्हें दबाना चाहा। कोई देश समुद्र के मार्ग से अन्य देशों को तभी जीत सकता है, उनसे तभी व्यापार कर सकता है, जब उस मार्ग की रक्षा उसका जंगी बेड़ा कर सके। स्पेन और इंगलिस्तान का जलयुद्ध हुआ। उस समय तक स्पेन और पुर्तगाल के राज्य एक हो गये थे। स्पेन की हार हुई। अंग्रेज़ों और डचों को अपनी व्यापारिक शक्ति बढ़ाने का मौक़ा मिला। सन् १६०० से १६०२ तक अंग्रेज़ और डच दोनों भारतीय और चीनी व्यापार के मैदान में पुर्तगालियों का सामना करने के लिए उतर पड़े।

योरप की धार्मिक जागृति का उल्लेख हो चुका है। परंतु यह अनुमान करना कठिन है कि उस समय ईसाई योरप के भीतर ही धर्म के नाम पर कितनी मारकाट थी। रोमन कैथोलिक लोग एक प्रकार के ईसाई सनातनधर्मी थे। इनका विरोध करनेवाले अपने तईं प्रोटेस्टेंट कहते थे, परंतु इन प्रोटेस्टेंटों के बीच भी भारी भेद था। इंगलिस्तान में अधिकांश जनता उस धर्म को मानती थी जो सरकार की ओर से नियत था। परंतु बहुत से ऐसे लोग भी थे जो यह सरकारी धर्म नहीं मानते थे। ये प्यूरिटनों के नाम से मशहूर थे। इंगलिस्तान

की सरकार को न रोमन कैथोलिकों पर कोई रहम था न प्यूरिटनों पर।

सत्तरहवीं शताब्दी अंग्रेजी साम्राज्य के बीजवपन का युग है। इस युग में अंग्रेज प्यूरिटन अटलांटिक महासागर पार करके उत्तरी अमरीका के पूर्वी किनारे पर बसे और उन उपनिवेशों की बुनियाद डाली जो आगे चलकर संयुक्त राज्य और कनाडा के नाम से प्रसिद्ध हुए। अंग्रेज व्यापारियों ने हिंद-महासागर के बंदरगाहों से पुर्तगालियों को हटाया और भारतीय बंदरगाहों पर कदम जमाकर भारतीय व्यापार को पुष्ट किया। डचों ने उनसे होड़ की, परंतु व्यापार के नाते अंग्रेजों ने अपने पुश्तैनी फ्रांसीसी बैरियों से मेल कर लिया और उनकी सहायता लेकर डचों को दबाया।

परंतु डचों के दबने पर अंग्रेजों को फ्रांसीसी होड़ का सामना करना पड़ा। अट्ठारहवीं शताब्दी अंग्रेजों और फ्रांसीसियों की होड़ का युग है। इस होड़ का इनाम था संसार का प्रभुत्व। फ्रांस की हार हुई; परंतु उस समय तक कोई और शक्ति संसार में प्रकट नहीं हुई थी। इसलिए पहला इनाम मिला अंग्रेजों को। उन्हीं को सार्वभौम सत्ता स्थापित हुई।

उन्नीसवीं शताब्दी ब्रिटिश साम्राज्य की सार्वभौम शक्ति के प्रसार का युग है। भारत पर अंग्रेजों का एक-छत्र राज्य स्थापित हुआ। स्पेनी और पुर्तगाली साम्राज्य के अंग स्वतंत्र हुए। फ्रांस जरमनी से पराजित हुआ। योरप का फिसड्डी देश रूस आगे बढ़ा। अंग्रेजों ने उसकी शक्ति दबाने की यथेष्ट चेष्टा की। परंतु २० वीं शताब्दी के प्रारंभ में जापान की मार खाकर उसकी चेष्टा भंग हुई। ब्रिटिश साम्राज्य की शक्ति उस समय अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गई।

उन्नीसवीं शताब्दी में योरपीय सभ्यता की पाशविक शक्ति इतनी बढ़ चढ़ गई थी कि संसार का कोई भाग नहीं रह गया जिसका हिस्सा-बाँट करने की योरपीय जातियों ने तजवीज न की हो। अफ्रीका का हिस्सा-बाँट हो गया, जिसमें महाभाग मिला अंग्रेजों को; उससे कम मिला फ्रांसीसियों को। बाक़ी में थोड़ा-बहुत अन्य योरपीय शक्तियों को मिला। तुर्की की क्षीण अवस्था थी। उसका हिस्सा-बाँट केवल ब्रिटेन

और रूस की प्रतिद्वंद्विता के कारण नहीं हो सका। फ़ारस के हिस्सा-बाँट करने में भी इसी कठिनाई का सामना करना था। चीन के हिस्से-बाँट में जापान भी सम्मिलित होना चाहता था। इसलिए ये देश बच गये। बाक़ी सब किसी न किसी योरपीय शक्ति के अधिकार में आ गये।

परंतु जिस शताब्दी में योरपीय सभ्यता के अंग्रेज़ और फ़्रांसीसी नेता संसार पर अपना प्रभुत्व बढ़ा रहे थे, उसी शताब्दी में कुछ राष्ट्र जाग्रत हुए, जो शक्ति की आराधना करके अंग्रेज़ों और फ़्रांसीसीयों का प्रभुत्व कम करने का प्रयत्न करने लगे। ये राष्ट्र हैं संयुक्त राज्य, जरमनी, इटली और जापान।

संयुक्त-राज्य के निवासी अंग्रेज़ों के ही भतीजे हैं। सन् १७७६ में उत्तरी अमरीका के पूर्वी किनारे पर बसे हुए अंग्रेज़ों ने इंगलिस्तान से स्वतंत्र होने का दावा किया। पाँच वर्ष की लड़ाई के बाद ये स्वतंत्र हो गये। उत्तरी अमरीका के जिस भाग में संयुक्त राज्य है, उसकी भूमि उपजाऊ ही नहीं खनिज पदार्थों से भी पूर्ण है। धीरे-धीरे इन निवासियों ने अटलांटिक महासागर से प्रशांत महासागर तक उत्तरी अमरीका के इस सर्वोत्तम भाग पर अधिकार कर लिया। सन् १८६१ से १८६६ तक दासप्रथा को लेकर इनका पारस्परिक गृहयुद्ध हुआ, जिसमें अलग होनेवाले राज्यों की हार हुई, और संयुक्त राज्य की संगठित शक्ति टूटने नहीं पाई। उस समय से अब तक उस देश पर कोई मुसीबत नहीं आई है। पुरानी दुनिया से अलग होने के कारण वह उसके झगड़ों से अलग रहा और लड़नेवालों की मुसीबत से भी उसने फ़ायदा उठाया। बीसवीं शताब्दी के आरंभ तक अंग्रेज़ ही दुनिया के महाजन थे और लंदन ही दुनिया की दौलत का केंद्र था। परंतु १९१४-१८ के महान् युद्ध के बाद से महाजनी की गद्दी लंदन से उठकर संयुक्त राज्य की राजधानी न्यूयार्क को चली गई है। जितना धन संयुक्त राज्य में है, उतना संसार के किसी भी देश में नहीं है। चंचला लक्ष्मी भारत से उठकर इंगलिस्तान गई और फिर वहाँ से अब लड़ाई झगड़े से दूर संयुक्त राज्य में है।

जरमनी और इटली योरप के पुराने देश हैं। इटली रोमन साम्राज्य का केंद्र था और आगे चलकर जरमनी पवित्र रोमन साम्राज्य का केंद्र रहा। परंतु बहुत समय तक दोनों देशों की शक्ति संगठित नहीं हो पाई। इटली का कई शक्तियों ने हिस्सा-बाँट कर लिया था। कुछ भागों पर स्पेन का राज्य था, कुछ पर आस्ट्रिया का। जरमनी में भी बहुत से छोटे-छोटे राज्य थे जो आपस में लड़ा करते थे। दोनों संगठित न होने के कारण शक्तिहीन थे।

उन्नीसवीं शताब्दी में फ्रांसीसी क्रांति के प्रभाव में आकर दोनों देश जाग्रत हुए। जरमनी संगठित हुआ और सन् १८७० में फ्रांस पर विजय प्राप्त करने पर उसकी गिनती शक्तिशाली देशों में होने लगी। इसी समय इटली में भी जागृति हुई। देश स्वतंत्र हुआ, अफ्रीका के हिस्से-बाँट में कुछ उसे भी मिला। आगे चलकर जरमनी से उसने मेल किया, परंतु प्रथम महासमर में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों से मिलकर जरमनी से लड़ गया, इस आशा से कि इन नये मित्रों से उसे कुछ मिल रहेगा। परंतु उसे मिला वही जो ऐसे लोगों को मिला करता है। मुसोलिनी के नेतृत्व में जरमनी से मिलकर दूसरे महासमर के परिणाम में अब उसकी असीम दुर्गति हो गई है।

जापान पर किस प्रकार योरपीय सभ्यता का प्रभाव पड़ा और किस प्रकार जाग्रत होकर योरपीय शक्तियों से भी लोहा लेने योग्य वह हो गया, इसका उल्लेख करने के पहले यह बर्णन करना आवश्यक है कि योरपीय सभ्यता की टक्कर खाकर संसार की अन्य सभ्यताओं की क्या दशा हुई।

पहले उन देशों का संक्षिप्त उल्लेख करना है, जिनमें बसे हुए लोग सभ्यता में बहुत पीछे थे। नई दुनिया में बसी हुई जातियाँ बहुत कुछ असभ्य ही थीं, यद्यपि मेक्सिको में मय युग की सभ्यता तथा दक्षिणी अमरीका में इंका जातियाँ बहुत बढ़ी चढ़ी थीं। इनकी सभ्यता जो कुछ रही हो, परंतु ईसाई पादरियों और योरपीय लोहे की बौछार हो ने उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। जो जातियाँ बच रहीं वे मदिरा और

व्यभिचार की शिकार हुई। आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड, प्रशांत महासागर के द्वीपों और अफ़्रीका महाद्वीप में बसी हुई जातियाँ योरपीय सभ्यता के संपर्क में आकर ईसाई-धर्म में दीक्षित हुईं, सो अच्छा ही हुआ। परंतु उन पर योरपीय सभ्यता का निशाचरी प्रभाव भी पड़ा, जिसके कारण उनकी आबादी दिन पर दिन घटने लगी और अब तक तो प्रायः नष्ट सी हो चुकी है। एशिया में मिस्र और कुस्तुनतुनिया से लेकर जापान तक बसी हुई जातियों की सभ्यता में प्राणशक्ति अधिक थी। योरपीय सभ्यता की टक्कर खाकर उन्हें हार माननी पड़ी। परंतु उनके प्राण नहीं गये। इन सभ्यताओं का हृदय अपना रहा, यद्यपि योरपीय सभ्यता का आवरण उन्होंने थोड़ा-बहुत अवश्य ले लिया।

मिस्र और तुर्की राज्य योरप के बहुत निकट थे। परंतु धार्मिक वैमनस्य के कारण बहुत समय तक इन देशों पर योरपीय सभ्यता का प्रभाव न पड़ सका। तुर्की और मिस्र की दशा उन्नीसवीं शताब्दी में बहुत हीन हो गई। मिस्र को अंग्रेज़ी संरक्षण में आना पड़ा और तुर्की भी किसी योरपीय शक्ति के अधिकार में आ जाता यदि उसके हिस्से-बाँट में योरपीय शक्तियों का समझौता हो सकता।

जाग्रत योरपीय सभ्यता का प्रधान लक्षण था धार्मिक उदासीनता अथवा सहनशीलता। मिस्र और तुर्की के लोग मुसलमान होने के कारण धार्मिक विश्वास में बहुत कट्टर माने जा सकते थे; परंतु इस शताब्दी में जब उन पर योरपीय सभ्यता का पूरा प्रभाव पड़ सका है तो धार्मिक विश्वास के विषय में उन पर भी वही रंग दिखाई देता है। तुर्की और मिस्र में राष्ट्रीयता का योरपीय ढंग पर काफ़ी ज़ोर है। रहन-सहन पर योरपीय सभ्यता का प्रभाव है। धार्मिक दलबंदियों की जगह पर धार्मिक और राजनीतिक दलबंदियाँ हैं।

जिस प्रकार योरपीय जागृति ने प्राचीन यूनान और रोम के आदर्शों को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया, उसी प्रकार एशियाई सभ्यताएँ भी योरपीय सभ्यताओं से टक्कर खाकर आदर्शों की खोज में अपनी प्राचीनता की ओर ही झुकीं। आधुनिक फ़ारस पर योरपीय

सभ्यता का यथेष्ट प्रभाव है। उसके नेता रज़ाशाह पहलवी देश को योरपीय आवरण पहनाने की धुन में थे। परंतु आदर्श की खोज करने के लिए वह भी ज़िंदावेस्ता तक पहुँचे। देश फ़ारस न कहलाकर ईरान कहलाता है और ईरानी सभ्यता के आदर्शों से आधुनिक ईरानी सभ्यता के नेता प्राणशक्ति लेने का प्रयत्न करते हैं। अफ़ग़ानिस्तान बहुत पिछड़ा हुआ है। महान् युद्ध के पश्चात् अमानुल्ला ने उसको योरपीय आवरण पहनाने में आवश्यकता से अधिक शीघ्रता कर दी, जिसका उल्टा असर हुआ, यद्यपि एक ओर आधुनिक रूस को नास्तिकता और दूसरी ओर भारतीय जागृति की लहर ने अफ़ग़ानिस्तान पर भी थोड़ा बहुत प्रभाव डाला होगा।

भारत प्राचीन एशिया की सभ्यता का केंद्र था। यहाँ प्रत्येक सभ्यता का आदर हुआ। आर्य सभ्यता पर पहले अनार्य सभ्यता का रंग चढ़ा, फिर यूनानी तथा चीनी सभ्यताओं से उसका संपर्क हुआ, और मध्ययुग में इस्लाम और सामंत-प्रथा की लहरों का भी उस पर प्रभाव पड़ा। इस देश की सभ्यता में पारलौकिक सात्विकता का रंग इस्लामी काल में भी बना रहा। इस्लाम और हिंदू सभ्यता के संपर्क का परिपाक अकबर के काल में हुआ, जब राष्ट्रीय मंच से उसने धार्मिक सहनशीलता की आवाज़ ऊँची की और साहित्यिक मंच से उसके समकालीन कवियों ने ज्ञान अथवा भक्ति का दिव्य उपदेश देकर जनता के सात्विक भाव पुष्ट किये।

ऐसे ही समय पर योरपीय सभ्यता के प्रचारकों का व्यापारी या पादरी के बाने में भारत में पदार्पण हुआ। अकबर और जहाँगीर को क्या पता था कि ये व्यापारी और पादरी उस सभ्यता के प्रचारक हैं, जिसने संसार की दिग्विजय करना निश्चय कर लिया है। उन्होंने इनका स्वागत किया। इन्हें समझने का कोई प्रयत्न नहीं किया।

किस प्रकार व्यापारियों ने देश का आर्थिक शोषण किया और फिर किस प्रकार पादरियों ने देश के आचार-विचार पर शिक्षा द्वारा योरपीय सभ्यता का प्रभाव डाला, इसका विवरण करने की यहाँ जगह

नहीं है। इतना की कहना काफ़ी है कि दो सौ वर्ष के भीतर अँग्रेज़ों का भारत पर प्रभुत्व स्थापित हुआ। योरपीय सभ्यता ने विजयी के वेश में इस देश की सभ्यता को प्रभावित करना प्रारंभ किया। योरपीय सभ्यता का पहला प्रभाव देश पर बहुत बुरा पड़ा। प्रभावित लोगों के हृदय में न अपने देश के प्रति प्रेम रह गया, न अपनी सभ्यता अथवा आचार-विचार के प्रति उनके हृदय में श्रद्धा रही। वेष-भूषा विलायती, विचार विलायती, धर्म की ओर से उदासीनता, सात्त्विकता और सेवा से संकोच।

परंतु यह दशा अधिक काल तक नहीं रही। योरपीय सभ्यता की चकाचौंध में पहले तो हम अपनी निधि नहीं देख सके, परंतु योरपीय विद्वानों ने हमारी निधि की क़ीमत लगाई, हमारे साहित्य, हमारी सभ्यता की सात्विकता का महत्व बताया। तब हमारी आँखें खुलीं। हमारे देश के भीतर उन महापुरुषों ने जन्म लिया जिन्होंने देशी भाषाओं की सेवा की और उनके साहित्य में योरपीय सभ्यता की राष्ट्रीय भावना की पुट दी। धर्म-सुधारकों ने जन्म लिया। हिंदू समाज को स्वामी दयानंद ने पुनर्जीवन दिया, मुसलमान जनता को सर सैयद अहमद ने योरपीय सभ्यता से सबक़ लेने का उपदेश दिया।

यों देश में राष्ट्रीय जीवन का बीजवपन हुआ। सन् १८८५ से नेशनल कांग्रेस संस्था द्वारा राष्ट्रीय भावना ने पुष्ट होना प्रारंभ किया, परंतु बहुत समय तक यह संस्था जनसाधारण की वस्तु नहीं हो सकी। उसकी राष्ट्रीयता में योरपीय आर्थिकता का ही रंग रहा, भारतीय सभ्यता की सात्विकता नहीं आ सकी। यह काम सन् १९१५ से महात्मा गांधी ने प्रारंभ किया। भारतीय राष्ट्रीयता का भाव अब योरपीय भाव से बहुत कुछ भिन्न है। इस राष्ट्रीयता पर योरपीय सभ्यता का गहरा रंग है, परंतु उसका हृदय अब भी भारतीय है।

भारतीय सभ्यता ने राष्ट्रीयता के योरपीय भाव को क्या समझा, इसका काव्यात्मक संदेश देने के लिए देश में एक दूसरी आत्मा ने जन्म लिया जिसका नाम रवींद्रनाथ ठाकुर है। गांधीजी ने कार्यक्षेत्र में और

रवींद्रजी ने विचार-क्षेत्र में योरपीय सभ्यता का भारतीय से किस प्रकार सामंजस्य किया है, इसका वर्णन अन्यत्र है।

चीन का सभ्यता भारत की सभ्यता से कम पुरानी नहीं है। भेद इतना ही है कि चीन की सभ्यता मुग़ल जाति की देन है और भारतीय सभ्यता पर प्राचीन आर्य सभ्यता की छाप है। चीनी उस समय भी सभ्यता में बढ़े-चढ़े थे जब अधिकतर योरपीय निरे जंगली थे। सूती कपड़े की आदि भूमि यदि भारत है तो रेशमी कपड़े की चीन है। भारत के आविष्कार यदि विचार-क्षेत्र के ही रहे तो चीन ने कार्य-क्षेत्र में भी कई आविष्कार किये। परंतु मंचुओं का विदेशी शासन शुरू होने पर चीनियों की बुद्धि पर परदा पड़ गया। चीनी सभ्यता का जो संपर्क योरपीय सभ्यता से मुग़ल शासन काल में प्रारंभ हुआ था, वह बहुत कुछ मिंग शासन काल में टूट गया था। मंचू शासन काल सन् १६४४ से १९११ तक रहा। इतने दीर्घ काल के भीतर योरपीय सभ्यता का नई दुनिया पर पूरा अधिकार हो गया। योरपीय जातियों ने चीन के कई बंदरगाहों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया, जापान ने योरपीय सभ्यता को अपना लिया, परंतु चीनी अपनी प्राचीन सभ्यता के गौरव का सुख-स्वप्न ही देखते रहे। चीनी शासन ने योरपीय सभ्यता से कुछ सीखने का प्रयत्न नहीं किया।

यद्यपि शासक-दल पुरानी लकीर का फकीर रहा, परंतु सन् १८९४-९५ में जापान से हारने के बाद चीन में जागृति प्रारंभ हुई। ईसाई पादरियों के प्रभाव में आकर बहुत से ऊँचे घरानों के चीनी ईसाई हो गये, उन्होंने संयुक्त राज्य अथवा जापान में शिक्षा प्राप्त की और अंत में मंचू शासन को नष्ट करने में सफल हुए। परंतु मंचू शासन का अंत होकर भी योरपीय सभ्यता का चीनी सभ्यता से सम्मिलन और समझौता न हो सका। एक ओर रहा शासक-दल जो योरपीय सभ्यता के रंग में बिलकुल रँगा हुआ था, और उसके शासन में रहा चालीस करोड़ जनता का दल, जिस पर न शिक्षा का विशेष प्रभाव पड़ सका

न योरपीय राष्ट्रीयता का। सन् १९२८ तक च्यांग-कई-शेक के नेतृत्व में लगभग पूरा चीन एक छत्र के नीचे आ सका और थोड़े ही समय पश्चात् उसने 'नवीन जीवन' का प्रचार करके योरपीय सभ्यता के प्रकाश को चीनी देहातों तक पहुँचाने का प्रयत्न किया।' परंतु जापान से फिर लड़ाई छिड़ने के कारण उसका यह पुनीत कार्य रुक गया। चीन में राष्ट्रीयता का भाव बहुत कुछ जाग्रत हुआ, परंतु बहुत कुछ भाग पर जापानी प्रभुत्व स्थापित हो गया है। योरपीय सभ्यता का प्रभुत्व चीन पर बढ़ता ही दिखाई देता है। परंतु अब तक जिस प्रकार चीन पर योरपीय प्रभुत्व बढ़ रहा था, वह अब घटता हुआ दिखाई देता है।

जापान का विवरण अंत में ही करना उचित है। एक तो इस लिए कि योरपीय सभ्यता अपनी भूमि से चलते-चलते अंत में ही जापान के द्वीपों तक पहुँची; दूसरे इसलिए कि इस सभ्यता का सबसे सफल परिपाक योरप के बाहर कहीं भी हो सका तो जापान में।

जो समय योरपीय जागृति का था उस समय जापान के द्वीप सामंत-प्रथा के चंगुल में थे। उन पर चीनी सभ्यता का प्रभाव पड़ चुका था और बौद्ध-धर्म के प्रचार द्वारा उनके चरित्र में बहुत कुछ कोमलता आ गई थी, परंतु देश दरिद्रता के पाश में था और लगभग ३०० सामंतों में बँटा था जो नित्य-प्रति लड़ा करते थे।

ऐसे समय जापान में तोकूगावा वंश के शोगुनों ने अपनी नीति-कौशल से देश को एक छत्र के नीचे किया और सामंत-प्रथा को दबाया। इस वंश का नेता इयासू जहाँगीर का समकालीन था; और जिस प्रकार जहाँगीर की मित्रता हाकिंस नामक एक अंग्रेज यात्री से हो गई थी उसी प्रकार इयासू की मित्रता भी विल आडम्स नामक एक अंग्रेज से हो गई थी। परंतु मुग़ल वंश के शासक योरपीय पादरियों और व्यापारियों की नीति को न समझ सके, जब कि तोकूगावा शोगुन को जापान की अधिक हानि होने के पहले ही योरपीय पादरियों की नीति का पता चला।

सन् १५६७ में जब स्पेन और पुर्तगाल के जेसूट पादरी अकबर के दरबार में हाथों हाथ लिये जा रहे थे, जापान के एक टापू के किनारे एक स्पेनी जहाज़ आ लगा। उस समय इयासू के अग्रज हिद-योशी का शासन था। उसे योरपीय पादरियों की जापानियों को ईसाई बनाने की नीति पर कुछ संदेह होने लगा था। उसने जहाज़ के कप्तान से पादरियों को भेजने का कारण पुछवाया। उत्तर मिला—

"हमारे बादशाह जिस देश को जीतना चाहते हैं, वहाँ अपने पादरियों को भेज देते हैं। पादरी उस देश के निवासियों को ईसाई बनाते हैं। जब इन ईसाइयों की यथेष्ट संख्या हो जाती है तो वे अपनी सेनाएँ भेजते हैं, जो देश के नये ईसाइयों से मिलकर बाद-शाह का काम बनाती हैं।"

महात्मा ईसा क्या कभी कल्पना भी कर सकते थे कि उनका नाम लेनेवाले योरपीय संसार को ऐसे ही स्वर्ग का राज्य दिखलाएँगे? जो हो परंतु जापान को सूचना मौक़े से मिल गई। तोकूगावा शोगुनों ने योरपीय सभ्यता से संपर्क रखना बिलकुल बंद कर दिया। लगभग ढाई सौ वर्ष तक जापान ने योरपीय सभ्यता का बहिष्कार किया। बहुत कुछ समय तक बहिष्कार संभव भी रह सका क्योंकि जापान सभ्य संसार के पूर्वतम छोर पर था। परंतु योरपीय सभ्यता एशियाई मार्ग छोड़कर जापान के पूर्व से आ रही थी। उत्तरी अमरीका में योरपीय बस रहे थे और उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य काल तक संयुक्त राज्य अटलांटिक महासागर से प्रशांत महासागर तक फैल चुका था। योरपीय सभ्यता ने नई दुनिया का बाना पहनकर जापान का द्वार खटखटाया। यह बात सन् १८५३ की है, लगभग उस समय की जब भारतीय सभ्यता ने सिपाही-विद्रोह द्वारा योरपीय सभ्यता की बाढ़ रोकने का अंतिम विफल प्रयत्न किया।

इसी समय लगभग दोनों देशों में योरपीय सभ्यता को अपनी दिग्विजय करने का मौक़ा मिला। परंतु जापान और भारत के बीच

सबसे बड़ा भेद यह रहा कि भारतीयों ने योरपीय सभ्यता को उस प्रकार अपनाया जिस प्रकार कोई पराजित जाति विजेता जाति की सभ्यता को अपनाया करती है; और जापान ने योरपीय सभ्यता को इसलिए अपनाया कि उसकी सहायता से उस सभ्यता के आचार्यों के हथकंडों से वह अपने तईं बचा सके।

इस समय जापान के साम्राज्यवाद ने भारतीय जनता के हृदय में उसके प्रति अश्रद्धा उत्पन्न कर दी है; और इसमें कोई संदेह नहीं कि जापान ने चीन की स्वतंत्रता अपहरण करने का जो प्रयत्न किया है उससे जापान ही की हानि होने की संभावना है, क्योंकि जापान की चीन के प्रति वही नीति दिखाई देती है जो योरपीय साम्राज्यवादियों की पराजित जातियों के प्रति रही है। परंतु यह मानना पड़ेगा कि जिस प्रकार जापान ने योरपीय सभ्यता को अपना कर भी अपनी स्वदेशी संस्कृति को सुरक्षित रक्खा, जिस प्रकार योरपीय आवरण पहनकर भी उसने अपना हृदय स्वदेशी रक्खा, वह ढंग उन सब सभ्य जातियों के मनन करने योग्य है जो योरपीय सभ्यता के प्रभाव में आकर अपने राष्ट्रीय अस्तित्व को खो रही हों। इसीलिए यह और भी खेद की बात है कि जापान ने साम्राज्यवाद का बाना पहनकर एशियाई सभ्यता की सात्त्विकता को तिलांजलि दे दी है। यदि जापान चीन से मेल रखते हुए उसे स्वतंत्र और शक्तिशाली बना सकता, यदि वह चीन में सच्ची लोकसत्ता की स्थापना कर सकता तो वह अपनी राष्ट्रीय आत्मा को ही नहीं, एशिया की आत्मा को भी बचा लेता। एशिया की सभ्यता भारत की सभ्यता का विकास-मात्र है। योरप की सभ्यता में उसी प्रकार यूनान और रोम की सभ्यता का विकास है। एक का आदर्श है निःस्वार्थ सेवा द्वारा पारलौकिक आनंद की प्राप्ति; दूसरे का आदर्श है प्रकृति की विजय द्वारा ऐहिक सुख की प्राप्ति। दोनों आदर्शों का स्वतंत्र सम्मिलन हुआ है जापान में, परंतु योरपीय साम्राज्यवाद को अपनाकर वह बहुत कुछ दूषित हो गया है। सम्मिलन हुआ है भारत में भी, परंतु देश की परतंत्र

अवस्था में। इसलिए भारत पूर्वीय और पश्चिमीय आदर्शों के शुद्ध सम्मिलन का प्रभावपूर्ण संदेश तभी दे सकता है जब वह स्वयं स्वतंत्र हो। इस विश्वव्यापी महासमर के परिणाम में यदि भारत स्वतंत्रता प्राप्त कर सके तो वह सभ्य संसार को भारतीय धर्म और योरपीय अर्थ का वह सम्मिलित संदेश दे सकेगा जो साम्राज्यवादी जापान के लिए असंभव है।

---

६. फ्रांसीसी क्रांति और राष्ट्रीयता का विकास

पिछले अध्याय में योरपीय सभ्यता की दिग्विजय का ही विवरण है। जिस आर्थिक-राष्ट्रीय संगठन के बल पर इस सभ्यता की दिग्विजय हो सकी, और फिर प्रकृति पर विजय प्राप्त करने पर भी जो आर्थिक अशांति इस सभ्यता के आचार्यों को पारस्परिक विध्वंस में लगाये हुए है, उनका विवरण करना भी आवश्यक है। योरपीय सभ्यता ने सोलहवीं शताब्दी से जिन दो पहलुओं पर विकास किया, उनमें से एक है राजनीतिक और दूसरा है आर्थिक। इस अध्याय में उसके राजनीतिक पहलू पर ही विचार करना है।

संसार में जब से मनुष्य समाज में रहने लगा, तब से उसने अपने शासन के कई ढंग निकाले। परिवार उसका पहला समाज था। एक परिवार के बढ़ते-बढ़ते कई परिवार हो गये। उस समय तक उनका शासन ढंग लगभग वैसा ही रहा जैसा परिवार का था। सम्मिलित परिवार का बड़ा-बूढ़ा शासक होता था और अन्य गृहस्थ उसकी सहायता किया करते थे। आर्य देशों में शासक शासितों से परामर्श लेना अपना कर्तव्य समझता था। यों प्राचीन भारत में हमें कई जातिवर्ग के लोकतंत्रों का पता चलता है। यूनानी आर्यों ने नागरिक शासन-प्रथा की नींव इसी प्रकार डाली।

शासक के चुनाव में कठिनाई उस समय मालूम पड़ने लगी, जब मनुष्य-जाति के आपस में अधिक मिलने-जुलने से एक ही जगह पर कई वर्ग के लोग रहने लगे। प्राचीन काल के अंत तक प्रत्येक भूमि पर कई जातियों के परिवार बस गये थे और इनमें से बहुतेरे एक दूसरे से मिल भी गये थे। ऐसे समाज को संगठित करने के लिए जो व्यवस्था की गई उसे सामंत-प्रथा कहते हैं। बहुत समय तक प्राचीन समाज में पुरुष का दरजा उसके वंश से निश्चित होता रहा, उसके निवास स्थान से नहीं। प्राचीन काल में जो बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित हुए उनके नेता भी ऊँचे वंश के समझे जाने के कारण शासन करने में सफल होते थे। सामंत-प्रथा के समय से भूमि की मिलकियत से दरजा निश्चित होने लगा। यों समाज का उस भूमि से प्रेम बढ़ा जहाँ उसका निवास-स्थान था। धीरे-धीरे किसी विशेष भूमि के सामंतों के मध्य एक ऐसा सामंत हुआ जिसने सब सामंतों को दबाकर अपना नेतृत्व उन पर स्थापित किया। यों मध्यकाल के अंत में बादशाहतें क़ायम हुईं।

सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभ तक योरप उन देशों में बँट गया था जिनका अस्तित्व इस समय भी है। इंगलिस्तान, फ्रांस, स्पेन, जरमनी और इटली के देशों की अलग-अलग भाषाएँ हो गई थीं और अलग-अलग बादशाहतें भी। इंगलिस्तान में प्रतिनिधि प्रणाली पर शासक वर्ग की पार्लियामेंट नामक संस्था का अस्तित्व होने के कारण जनता में राष्ट्रीय भाव भी अंकुरित होने लगा था।

यह भाव सत्तरहवीं और अठारहवीं शताब्दी में पुष्ट होता रहा। पुस्तकों और शिक्षा-प्रचार ने समाज को एक भाषा और एक देश की बुनियाद पर संगठित किया। फिर बढ़ते हुए व्यापार के कारण प्रत्येक योरपीय समाज में एक ऐसे वर्ग का प्रभाव बढ़ा जिसके सामने सामंतों की आभा फीकी पड़ने लगी और मध्यकाल की बनी हुई सामाजिक श्रेणियाँ टूटने लगीं। इस्लाम ने 'एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से बराबरी करने का हक़ दिया था यदि दोनों एक धर्म को

मानते हों। उस सभ्यता ने जो योरपीय समाज में सोलहवीं शताब्दी से विकसित हो रही थी, मनुष्यों को आर्थिक श्रेणियों में विभाजित करना प्रारंभ किया। मनुष्य वंश के नाते बड़ा नहीं है; धर्म के नाते भी नहीं, वह धन के नाते ही बड़ा या छोटा है। यों वंश के नाते श्रेणीबद्ध समाज धन के नाते श्रेणीबद्ध होने लगा; जिसका परिणाम यह हुआ कि राजनैतिक क्षेत्र में समाज का प्रत्येक सदस्य किसी-न-किसी बहाने अपने को शासन कार्य में भाग लेने का अधिकारी समझने लगा। तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में इंगलिस्तान और फ्रांस के शासन में इन देशों के बादशाहों ने उन संस्थाओं को सम्मिलित किया जो प्रजा की प्रतिनिधि कही जा सकती थीं। प्रतिनिधि प्रणाली उस समय के लिए बिलकुल नई थी। नगर के नागरिक तो किसी प्रकार शासन में भाग ले सकते थे, जैसा कि यूनानी नागरिक शासन में हुआ करता था, परंतु राज्य बढ़ने पर प्रतिनिधि-प्रथा न होने के कारण नागरिक का शासन कार्य में भाग लेना बंद हो गया था और शासक स्वेच्छाचारी हो गये थे। मध्यकाल में सामंत-मंडली शासक की स्वेच्छाचारिता पर कुछ रोक-थाम करती रही, परंतु सामंत मंडली के कुछ कमजोर होने पर या उसको कमजोर करने के लिए, इंगलिस्तान और फ्रांस में, खासकर इंगलिस्तान में, साधारण प्रजा के प्रतिनिधियों को शासन में सम्मिलित करने का प्रयत्न किया गया। यह प्रयत्न इंगलिस्तान में तो सफल हो सका क्योंकि उस देश पर समुद्र से घिरा होने के कारण कोई भारी मुसीबत नहीं आई; परंतु फ्रांस की प्रतिनिधि-मंडली पुष्ट न हो सकी, और सामंत-मंडली कमजोर होती गई। फल यह हुआ कि सत्तरहवीं शताब्दी में जब इंगलिस्तान के शासन में नागरिक की प्रतिनिधि-मंडली, हाउस आफ़ कामंस, को शासन में भाग लेने का पूरा मौक़ा मिला, उसी समय फ्रांस के सम्राट पूर्ण रूप से स्वेच्छाचारी हो गये।

स्वेच्छाचारी शासकों का जोर तभी तक रहता है, जब तक वे सफल होते रहते हैं। उनके विफल होते ही विद्रोह का तूफ़ान उनके

विरुद्ध खड़ा हो जाता है। अट्ठारहवीं शताब्दी के प्रारंभ से फ्रांस को कई बार इंगलिस्तान के सामना करने में अपने मुँह की खानी पड़ी, उसके उपनिवेश निकल गये, व्यापार घट गया, देश पर तबाही आ गई।

ऐसे समय फ्रांस में दो महापुरुष हुए—वालटेयर और रूसो। वालटेयर एक बहुत बड़ा साहित्यिक था। उसने फ्रांसीसी भाषा में लगभग ६० मनोरंजक ग्रंथ लिखे हैं फ्रांस में धर्म का नाम लेने वाले पादरी बहुत दुश्चरित्र हो गये थे। उसने तालुकदारों और पादरियों दोनों का खिल्ली उड़ाई। वालटेयर के भक्त धार्मिक ढोंग के विरोधी और नास्तिक हो गये। रूसो कोई बहुत बड़ा लेखक नहीं था, परंतु उसके विचारों में मौलिकता थी। ऐसे समय जब फ्रांस की प्रजा अपने राजाओं के अत्याचार से दुखी थी उसने एक छोटी सी पुस्तक लिखी जिसमें उसने यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि मनुष्य समाज स्वभावतः स्वतंत्र है, शासन व्यवस्था करके ही वह अपनी स्वतंत्रता नष्ट कर लेता है। उसको अधिकार है कि जब चाहे उस व्यवस्था को तोड़कर वह स्वतंत्र हो जाय।

रूसो की पुस्तक में क्रांति का उपदेश है। उसके विचारों में तत्व बहुत कम है। परंतु उस समय उसने वह काम किया जो चिनगारी किसी बारूदखाने के लिए कर सकती है। सन् १७८९ में फ्रांस के बादशाह ने देश की दशा सुधारने के सब प्रयत्नों में विफल होने के बाद फ्रांस के प्रतिनिधियों को इकट्ठा किया। यह वह मंडली थी जो लगभग ६०० वर्ष से शासन में सहयोग देने के लिए बुलाई नहीं गई थी। इस मंडली की बैठक से फ्रांस की राज्यक्रांति प्रारंभ होती है।

फ्रांस की क्रांति में सबसे बड़ी खूबी यह है कि संसार के इतिहास में पहली बार एक देश के साधारण नागरिक अपने अस्तित्व का अनुभव करते हैं; जो क्रांति इस्लाम ने एक हजार वर्ष पहले धर्म के नाम पर तत्कालीन संसार में उत्पन्न की थी, उससे अधिक प्रभावशालिनी क्रांति फ्रांस के क्रांतिकारियों ने स्वतंत्रता, समानता और सहृदयता की

आवाज़ उठाकर पैदा कर दी। इस्लाम की क्रांति ने मनुष्य को समाज और स्वर्ग में बराबरी का अधिकार अवश्य दिया, परंतु स्वतंत्र लोक-तंत्र शासन का मार्ग नहीं दिखाया। ईसा और मोहम्मद ने कहा कि स्वर्ग का राज्य तुम्हारे ही हृदय में है। क्रांतिकारियों ने रूसो की क़सम खाकर कहा कि स्वर्ग बहुत दूर है, किसी ने उसे देखा नहीं, जिस देश में तुम रहते हो उसका राज्य तुम्हारे हाथ में है; देखो, जिस प्रकार हम अपने स्वेच्छाचारी शासकों से स्वतंत्र हुए हैं, उसी प्रकार तुम भी स्वतंत्र हो।

यों तो इँगलिस्तान में प्रतिनिधि-प्रणाली द्वारा शासक-वर्ग को स्वेच्छाचारी होने का मौक़ा बहुत कम मिला, परंतु उन्नीसवीं शताब्दी से शासन-प्रणाली में प्रजा के प्रतिनिधियों का सहयोग प्राप्त करने का जो ढंग शुरू हुआ उसकी बुनियाद फ़्रांस की क्रांति से ही पड़ी। उस समय तक बादशाह ही अपने-अपने देशों की ओर से शासन करते थे, लड़ाई छेड़ते थे, संधि करते थे, देशों की हार-जीत किया करते थे; जनता को अधिक फ़िक्र न रहती थी। इस क्रांति से राष्ट्रीय शासन का युग प्रारंभ होता है। पहले फ़्रांस और जरमनी के बादशाहों की लड़ाइयाँ होती थीं, अब फ़्रांसीसियों और जरमनों की लड़ाई होती है।

इस राष्ट्रीय शासन के विकास ने किस देश में क्या रूप-रंग लिया इसका विवरण बहुत मनोरंजक है। सबसे पहले उसने महाजनी लोकतंत्र का रूप लिया, जो इंगलिस्तान, फ़्रांस और संयुक्त राज्य में अब तक है। फ़्रांस और संयुक्त राज्य की शासन-प्रणाली तो सभी प्रकार से लोकतंत्र है; परंतु इंगलिस्तान की शासन-प्रणाली में कई रंग हैं। इँगलिस्तान के लिए प्रकट रूप से बादशाहत है और वास्तव में शुद्ध लोकतंत्र है, परंतु भारत के लिए जिस पर बाद-शाह नहीं, बल्कि अँग्रेज़ प्रजा का राज्य है, लोकतंत्र का दिखावा है, और शासन की वास्तविक नीति वही है जो एक देश की दूसरे देश पर हुकूमत करनेवालों की हुआ करती है। अँग्रेज़ी सम्राट को हम

रोमन ढंग पर क़ैसर-ए-हिंद कहते हैं और अँग्रेज़ों के भारतीय शासन में रोमन प्रणाली की बहुत कुछ छाया भी है।

राष्ट्रीय शासन का लोकतंत्र रूप तभी तक रहता है, जब तक जन-साधारण के प्रतिनिधियों का शासन पर अधिकार रहता है, और प्रतिनिधियों का शासन पर तभी अधिकार रह सकता है जब वे स्वयं समझदार हों और उनके चुनने वाले भी यथेष्ट समझदार हों। लोकतंत्र-शासन के लिए यथेष्ट वैयक्तिक स्वतंत्रता होनी चाहिए और प्रत्येक विषय पर निर्णय करने के लिए यथेष्ट समय चाहिए। ये सब बातें वहीं चल सकती हैं जहाँ यथेष्ट आंतरिक शांति हो, दुश्मनों का भय न हो। फ़्रांस में लोकतंत्र का जन्म हुआ है; इसलिए वहाँ लोकतंत्र शासन अब तक किसी प्रकार चल रहा है। परंतु सबसे सफल लोकतंत्र संयुक्त राज्य और ब्रिटेन में ही चल सका है। इन देशों की सफलता की जड़ में परंपरा का प्रभाव है, क्योंकि प्रतिनिधि-शासन वहाँ बहुत समय से है। परंतु आंतरिक शांति लोकतंत्र की सफलता का प्रधान कारण है। इस शताब्दी में ही योरप पर दो महान् संकट आये, परंतु संयुक्त राज्य इनमें भी आक्रमण की आशंका से मुक्त रहा। इंगलिस्तान की स्वतंत्रता का इतिहास लगभग नौ सौ वर्ष पुराना है। सन् १९४० में ही वहाँ के निवासियों को जरमन आक्रमण की आशंका हुई थी। सो लोकतंत्र और व्यक्ति की स्वतंत्रता भी थोड़े समय के लिए स्थगित कर दी गई है।

फ़्रांस का पहला लोकतंत्र सफल न हो सका। कुछ ही समय पश्चात् नेपोलियन ने लोक सभा पर अधिकार कर लिया। क्रांति की प्रबल शक्ति को इकट्ठा कर उसने फ़्रांस की पताका को लिसबन से मास्को तक पहुँचाया। नेपोलियन का पतन हुआ और पचपन वर्ष बाद फ़्रांस में निश्चित रूप से लोकतंत्र शासन की स्थापना हुई। परंतु इसके पहले ही रूस को छोड़कर राष्ट्रीयता का बीजवपन लगभग पूरे योरप में हो चुका था। पुर्तगाल और स्पेन से उनके उपनिवेश स्वतंत्र हुए और उनके राजाओं को इंगलिस्तान की नक़ल पर प्रजा

के प्रतिनिधियों को शासन कार्य में सम्मिलित करना पड़ा। परंतु ये सुधार सफल न हो सके। अब दोनों देशों में लोकतंत्र है, यद्यपि दोनों की शासन-प्रणाली में यथेष्ट भेद है, जिसका विवरण आगे होगा।

नेपोलियन के ही कारण जरमनी और इटली देशों में जागृति हुई। समय पाकर दोनों स्वतंत्र हुए और दोनों ने इँगलिस्तान की नक़ल पर प्रजा के प्रतिनिधियों का सहयोग प्राप्त करने के लिए शासन संस्थाएँ स्थापित कीं। परंतु इन देशों के निवासी बहुत समय से धार्मिक बंधनों में जकड़े हुए थे; इन पर पड़ोस से आक्रमण भी हुआ करते थे। इसलिए स्वतंत्र शासन-संस्थाओं का इन देशों में पनपना कठिन था। जरमनी के विधाता बिस्मार्क ने जो शासन-व्यवस्था स्थापित की उसमें जरमन नागरिक को अपनी सभ्यता और संस्कृति के उन्नत करने का मौक़ा दिया गया, परंतु उसकी स्वतंत्रता पर यथेष्ट नियंत्रण रक्खा गया और शासक वर्ग को इस संबंध में अधिकार भी दे दिये गये। जरमन राष्ट्र की महायुद्ध में हार होने पर देश में उदार लोकतंत्र की जड़ पड़ी, परंतु दुर्भाग्यवश उदारदल के नेताओं को विजयी राष्ट्रों से कोई विशेष सहानुभूति न मिल सकी; जिसके परिणाम में वहाँ ऐसे लोकतंत्र की स्थापना हुई, जिसका उद्देश्य संगठन और नियंत्रण द्वारा जरमन राष्ट्र की शक्ति को ही बढ़ाना था। केवर ने जो व्यवस्था इटली के शासन के लिए बनाई, वह यथेष्ट उदार थी। परंतु उदार नीति का परिणाम यह हुआ कि इटली की शक्ति का वह विकास न हो सका जो जरमनी कर सका। इसलिए पहले महासमर के पश्चात् इटली की राष्ट्र-शक्ति भी जरमनी के ढंग पर एक दल विशेष के हाथ में चली गई, जो देश की शक्ति को संगठित करके उसके पतन का कारण भी हुआ।

रूस के विस्तृत मैदानों में बिखरी हुई प्रजा पर फ्रांस के क्रांतिकारी विचारों का विशेष प्रभाव न पड़ा। उन्नीसवीं शताब्दी में रूस के साम्राज्य ने बहुत उन्नति की, परंतु इस उन्नति में प्रजा का बहुत कम हाथ था। रूसी सम्राट ने रूसी नागरिक का सहयोग प्राप्त करने

का कोई प्रयत्न नहीं किया। देश में शिक्षा का अभाव रहा और क्रांतिकारी विचार प्रकट करने वालों पर अत्याचार होता रहा। सन् १९०५ में रूस के जापान से हारने पर रूस की प्रतिनिधि-संस्था ड्यूमा को कुछ शक्ति प्राप्त करने का मौक़ा मिला। परंतु शीघ्र ही यह संस्था दबा दी गई और प्रजा को सफल क्रांति करने का तभी मौक़ा मिला जब रूसी साम्राज्य की प्रथम महासमर में दुबारा हार हुई। रूस में भी महान् युद्ध के पश्चात् जो लोकतंत्र शासन स्थापित हुआ है उसकी वास्तविक शक्ति एक दल विशेष के हाथ है, जिसे कम्यूनिस्ट कहते हैं। यों जरमनी, इटली और रूस में जो लोकतंत्र स्थापित हुए हैं वे वास्तविक लोकतंत्र नहीं हैं। तीनों में राज्यसत्ता दल विशेष के हाथ में है, जिसने नागरिक के अधिकारों पर यथेष्ट नियंत्रण कर रक्खा है।

नई दुनिया में जिन देशों को स्पेन और पुर्तगाल से स्वतंत्रता मिल चुकी है, उनमें से किसी देश में भी वास्तविक लोकतंत्र शासन स्थापित नहीं हो सका है। मेक्सिको से अर्जनटाइन तक प्रायः सभी देशों में प्रतिनिधिवर्ग की संस्थाएँ होते हुए भी शासनसत्ता प्रायः सैनिक नेताओं के हाथ में है। इन देशों में आंतरिक शांति बनाये रखने के सभी साधन हैं; विस्तृत भूमि है, आबादी की कमी है, एक देश की दूसरे देश से बहुत तनातनी भी नहीं है; तो भी शिक्षा के अभाव के कारण और स्पेनियों तथा पुर्तगालियों की विचार-परंपरा के लोकतंत्र शासन के प्रतिकूल होने से नई दुनिया के इन भागों में लोकतंत्र शासन की बहुत छीछालेदर हुई है। इन देशों में कोई भी देश शक्तिशाली नहीं है और यदि संयुक्त राज्य ने इनकी बढ़ती हुई योरपीय और एशियाई शक्तियों से रक्षा न की होती तो अब तक कई देश परतंत्र हो गये होते।

एशियाई देशों पर भी राष्ट्रीय शासन की लहर का बहुत कुछ असर पड़ा है, यद्यपि यह भी ठीक है कि राष्ट्रीयता की लहर को यहाँ पहुँचे सौ वर्ष से अधिक नहीं हुए।

सबसे पहले यूनान और मिस्र का उल्लेख करना है। यद्यपि एक देश योरप में है और दूसरा अफ्रीका में, परंतु दोनों के बहुत समय तक तुर्की के अधिकार में रहने के कारण दोनों पर एशियाई संस्कृति का बहुत कुछ असर हो चुका था। सन् १८३० के क़रीब यूनान तुर्की से स्वतंत्र हुआ। उसके बाद पड़ोसी बालकन भूमि के कई देश तुर्की से स्वतंत्र हुए, परंतु पड़ोस में शक्तिशाली साम्राज्यों के पारस्परिक वैमनस्य के कारण किसी देश में अब तक सुव्यवस्थित शासन स्थापित नहीं हो सका है। यूनान को छोड़कर जिसकी संस्कृति बहुत पुरानी है, किसी भी बालकन देश में राष्ट्रीय भाव भी नहीं पुष्ट हो सके हैं। प्रत्येक देश में कई जातियों का मिश्रण है, जिनके पारस्परिक झगड़े हुआ करते हैं। इसीलिए बालकन भूमि से प्रथम महासमर की अग्नि प्रचंड हुई और इन देशों का राजनीतिक वातावरण अब भी ख़तरे से ख़ाली नहीं है।

वास्तविक मिस्र उत्तरी अफ्रीका का वही भाग है, जहाँ तक नील नदी का जल पहुँचता है। इस देश की संस्कृति भी बहुत पुरानी है। परंतु मध्यकाल में अनेक जातियों के मिश्रण के कारण यहाँ राष्ट्रीयता के भाव पुष्ट न हो सके और उन्नीसवीं शताब्दी में मिस्र पर अंग्रेज़ी प्रभुत्व हो गया। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से देश में राष्ट्रीय जागृति हुई और महान् युद्ध के पश्चात् अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति ने मिस्र को स्वतंत्र होने का मौक़ा दिया। इंगलिस्तान के ढंग पर इस देश में भी प्रतिनिधि संस्थाएँ क़ायम हुई हैं। इधर कुछ समय से वहाँ के उदार दल का प्रभाव बढ़ गया है, यद्यपि नागरिक के अधिकारों पर नियंत्रण भी बढ़ गया है और शासनसत्ता एक दल विशेष के हाथ में चली गई है।

महान् युद्ध में तुर्की के जरमनी का साथ न देने पर जरमनी की हार के साथ तुर्की की हार हुई और उसके बचे-खुचे साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े कर दिये गये। अरब स्वतंत्र हुआ। फ़िलस्तीन पर अँग्रेज़ी प्रभुत्व हुआ। सीरिया पर फ़्रांसीसियों ने अधिकार किया। इराक़ में

एक नया राज्य अँग्रेज़ी संरक्षण में स्थापित किया गया। बाक़ी हिस्से के लिए तुर्की के सुलतान के विरुद्ध कमालपाशा के नेतृत्व में सफल विद्रोह हुआ, सल्तनत और ख़िलाफ़त का अंत हुआ और कमालपाशा की तानाशाही हुकूमत क़ायम हुई। तुर्की में भी प्रतिनिधि संस्था है। कमालपाशा के नेतृत्व में तुर्की की सभ्यता ने योरपीय बाने को बहुत कुछ अपनाया है और देश में राष्ट्रीयता का असर भी है, परंतु वास्तविक लोकतंत्र वहाँ भी नहीं है। नागरिक के अधिकारों पर बहुत कुछ नियंत्रण भी है। परतंत्र फ़िलस्तीन और सीरिया को छोड़ते हुए अरब सभ्यता के केंद्रीय देशों, यज्द और इराक़, में स्वतंत्र अरब शासन अवश्य है, परंतु न तो आधुनिक काल की प्रतिनिधि संस्थाएँ जम पाई हैं और न इनमें धार्मिकता का वह जोश ही बाक़ी है, जिसने मध्यकालीन संसार में क्रांति पैदा कर दी थी।

फ़ारस प्राचीन ईरानी सभ्यता की भूमि है। वहाँ के बादशाह पर योरपीय सभ्यता का प्रभाव पड़ने पर वह शासन कार्य के लिए पहले से अधिक अयोग्य हो गया। इसलिए महासमर के पश्चात् देश के राष्ट्रीय दल को रज़ाशाह पहलवी के नेतृत्व में शासन पर अधिकार करने का मौक़ा मिला। अब देश में राष्ट्रीय शासन है, और शासक वर्ग ने एक प्रतिनिधि संस्था भी बना रक्खी है, परंतु चुनाव में वही लोग आ पाते हैं, जिन्हें शासकवर्ग चाहता है। यों शासन के राष्ट्रीय होते हुए भी ईरान के नागरिकों का शासन में बहुत कम हाथ है, जिसका विशेष कारण देश में शिक्षा का अभाव है। अभी ईरान की राष्ट्रीयता बहुत निर्बल है।

अफ़ग़ानिस्तान के रूसी और अँग्रेज़ी साम्राज्य के बीच में होने के कारण इस देश पर दोनों शक्तियों के दाँत रहे। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम काल में यह देश अंग्रेज़ी साम्राज्य के संरक्षण में आ गया। परंतु महासमर की परिस्थिति ने इसे स्वतंत्र होने का मौक़ा दिया। देश का शासन राष्ट्रीय अवश्य है, परंतु शिक्षा का अभाव यहाँ भी है, जिस कारण अफ़ग़ान प्रजा का शासन में कोई हाथ नहीं है।

अफ़ग़ानिस्तान के बाद एशिया के स्वतंत्र देशों में स्याम, चीन और जापान ही रह जाते हैं। स्याम बर्मा के पूर्व एक छोटा सा देश है। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक स्याम की राजनीति पर फ़्रांस का प्रभाव रहा, परंतु महासमर के पश्चात् स्याम के राष्ट्रीय दल को सफल विद्रोह करने का मौक़ा मिला। अब स्याम के शासन में प्रतिनिधि-संस्था का बहुत कुछ हाथ है।

चीनी क्रांति के नेता मंचू राज्य को नष्ट करके किसी समय भी चीन में लोकतंत्र शासन स्थापित नहीं कर सके। चीनी प्रजा को प्रतिनिधि संस्था स्थापित करने का मौक़ा ही नहीं मिला। शासन की बागडोर एक के बाद दूसरे सफल सैनिक नेता के हाथ में पहुँचती गई। अंतिम सफल नेता च्यांग कई-शेक ने पूरे चीन को संगठित करने का प्रयत्न किया और जापानी साम्राज्य-नीति के विरोध की बुनियाद पर राष्ट्रीयता का भाव पुष्ट करना चाहा। इसलिए चीन और जापान का युद्ध सन् १९३७ से छिड़ गया, जिसके परिणाम में चीन का बहुत कुछ भाग जापान के अधिकार में आ गया है।

जापान की राष्ट्रीय जागृति का उल्लेख हो चुका है। जापान ने योरपीय सभ्यता से सब कुछ लिया, परंतु शासन संबंधी क्रांतिकारी विचार उसने नहीं अपनाये। जापान ही संसार का एक ऐसा देश है, जिसमें राजसत्ता जनता में केंद्रित नहीं समझी जाती, सम्राट में समझी जाती है। तो भी जब सन् १८९० में जापानी नेता राजकुमार इतो ने शासन की व्यवस्था बनाई तो उसमें उसने जनता की प्रतिनिधि-संस्था को लगभग वही अधिकार दिया जो जरमन प्रतिनिधि-संस्था को जरमन साम्राज्य में प्राप्त था। यों सम्राट के अधिकारों में प्रतिबंध लगा दिया गया और जापानी शासन को लोकमत के अनुकूल बनाने की व्यवस्था की गई। परंतु जापानियों के भाव राष्ट्रीय होते हुए भी लोकतंत्र शासन-व्यवस्था के अनुकूल नहीं हैं। साधारण जापानी राजनैतिक दलबंदियों को पसंद नहीं करता। उसे स्वतंत्रता से नियंत्रण अधिक पसंद है। इस कारण

जापानी नेताओं की दलबंदियाँ सफल नहीं हो सकीं और शासन नीति पर सैनिक नेताओं का प्रभुत्व बढ़ता रहा। जापान ने चीन और रूस पर जो विजय प्राप्त की, उससे सैनिक नेताओं की शक्ति बहुत बढ़ गई और चीन से युद्ध छिड़ने पर सन् १९३७ से तो सैनिक दल का प्रभुत्व और भी बढ़ गया है। यों जापानी शासन-व्यवस्था पर अब लोकसत्ता का आवरण मात्र है। वास्तव में प्राचीन परिपाटी के अनुसार व्यवस्था सैनिक शासन की ही है। भेद इतना ही है कि पहले सैनिक शासन सामंतों के ही हाथ में था और आधुनिक सैनिक नेता संगठित राष्ट्रीय सैनिक वर्ग के योग्य नेता हैं।

एशिया के परतंत्र देशों में तीन का प्रमुख स्थान है। फ्रांस के अधीन इंदोचीन है। हालैंड के अधीन पूर्वी द्वीप समूह है और इंगलिस्तान के अधीन भारतवर्ष है।

इंदोचीन और पूर्वी द्वीपों की सभ्यता बहुत बढ़ी-चढ़ी नहीं थी, जिस समय इन देशों पर विदेशी शासन प्रारंभ हुआ। इसलिए इन देशों की संस्कृति विदेशी शासन के कारण बहुत कुछ नष्ट हो गई है, और शिक्षा में पिछड़े रहने के कारण इनमें राष्ट्रीय जागृति भी बहुत कम हुई है। परंतु भारतवर्ष बहुत बड़ा देश है। यहाँ की सभ्यता उस समय भी बहुत उन्नत अवस्था में थी, जब यहाँ उन्नीसवीं शताब्दी में राष्ट्रीय संगठन न होने के कारण धीरे-धीरे विदेशी शासन स्थापित हो गया। यह विदेशी शासन भी योरप की उस जाति का था जो स्वतंत्रता के विकास में सबसे आगे थी। इसलिए अंग्रेजी सभ्यता के संपर्क से जहाँ बहुत कुछ हानि हुई, वहाँ राष्टीय जागृति भी हुई।

राष्ट्रीय जागृति के संबंध में सबसे बड़ी बात यह हुई कि पूरा देश एक छत्र, एक शासन, के नीचे आ गया। क़ानूनी शासन, आने जाने की सुविधाएँ, शिक्षा प्रचार, सभी ने राष्ट्रीय जागृति में सहायता दी। जागृति के साथ पार्लियामेंटरी शासन के ढंग पर देश में शासन संस्थाएँ भी स्थापित की गई, यद्यपि इन संस्थाओं को

अधिकार बहुत कम दिये गये, परंतु इनके द्वारा भी जनता को प्रतिनिधि संस्थाओं द्वारा शासन करने की शिक्षा मिली। यों यह देश परतंत्र होते हुए भी एशिया के अन्य देशों की अपेक्षा लोकतंत्रात्मक संस्थाओं द्वारा शासन भार लेने योग्य हो गया है। इंडियन नेशनल कांग्रेस देश की सबसे बड़ी राजनैतिक संस्था की भी नीति प्रकट रूप से प्रतिनिधि शासन प्रणाली की ओर ही है, यद्यपि उसके संगठन में दल विशेष द्वारा शासन करने का ढंग भी दिखाई देता है।

अभी तक राष्ट्रीय शासन व्यवस्था की दिग्विजय की ही व्याख्या की गई है। जिस राष्ट्रीयता की दिग्विजय आधुनिक संसार में हुई है उसकी जड़ में धार्मिकता या पारलौकिक सात्विकता नहीं है। वह समाज की आर्थिक आवश्यकताओं की बुनियाद पर है। नागरिक के ऐहिक स्वार्थ का वह केवल एक संगठित रूप है। इसीलिए उसमें धर्म की ओर से उदासीनता है, धार्मिक भेद के प्रति सहनशीलता है। अगले अध्याय में इस राष्ट्रीयता के आर्थिक अंश के विकास की संक्षिप्त व्याख्या की जायगी।

७. व्यावसायिक क्रांति और राष्ट्रीय संघर्ष

योरपीय सभ्यता की दिग्विजय के साथ-साथ जिस प्रकार राष्ट्रीयता का विकास हुआ उसका उस व्यावसायिक क्रांति से घनिष्ठ संबंध है जो अट्ठारहवीं शताब्दी के मध्यकाल से इंगलिस्तान में प्रारंभ हुई, जिसका विकास जारी है और जिसका प्रभाव अब विश्वव्यापी हो गया है।

अट्ठारहवीं शताब्दी के पहले तीन हज़ार वर्ष तक हमें मनुष्य की सभ्यता के विकास का पता थोड़ा-बहुत मिलता है। इस दीर्घ काल

के भीतर मनुष्य के रहन-सहन में जितना परिवर्तन नहीं हुआ उतना व्यावसायिक क्रांति के दो सौ वर्ष के भीतर हो गया है। अभी तक जो कुछ परिवर्तन हो चुका है, वह भी शायद काफ़ी नहीं है। एक कल्पनाशील विद्वान श्रीवेल्स ने तो उस भयावह संसार की कल्पना की है जो २०वीं शताब्दी के अंत तक होने वाला है। हमारे पूर्वज आकाश में उड़ने वाले यंत्रों की कल्पना ही कर सके थे, निशाचरी युद्ध की कल्पना ही राम-रावण युद्ध में है, परन्तु बुद्ध से अकबर के समय तक वही सवारियाँ थीं, वही कारीगरी थी, उसी प्रकार की खेती थी। यदि बुद्ध ने अकबर के समय में काशी की सैर की होती तो तो उन्हें कुछ अचंभा न होता; परंतु सन् १९४४ की काशी को देखकर उनके आश्चर्य की सीमा न रहती। बटन के इशारे से नगर की रोशनी देखते, भाप और बिजली से चलनेवाली रेलगाड़ियाँ और जहाज़ देखते, आकाश में उड़नेवाले वायुयान देखते और सारनाथ में बैठे बैठे योरपीय महासमर की ख़बरें रेडियो से सुनते। भारत अभी बहुत कम बदला है; यदि योरप की सैर करते तो उस निशाचरी जीवन और उसके भयंकर परिणाम को भी देखते जो इस समय व्यावसायिक क्रांति के जन्मदाताओं को भुगतना पड़ रहा है।

योरपीय जागृति का उल्लेख हो चुका है। इस जागृति का एक परिणाम यह हुआ कि योरपीय जातियों को नई दुनिया का पता लगा। उस समय तक इंगलिस्तान सभ्य संसार के कोने में था; अब वह सभ्य और असभ्य संसार के केंद्र में हो गया।

सांस्कृतिक जागृति के साथ धार्मिक जागृति हुई, रोमन कैथोलिक धर्म के विरोधियों पर अत्याचार भी हुआ। इंगलिस्तान स्वतंत्र था, कैथोलिक धर्म का विरोधी था। उस समय योरप के फ़्लैंडर्स प्रदेश में ऊनी कपड़े के जुलाहे और दक्षिणी फ्रांस में रेशमी कपड़े के जुलाहे बहुत होशियार माने जाते थे। ये लोग कैथोलिक धर्म के विरुद्ध हो गये, जिस कारण अपना देश छोड़ इन्हें इंगलिस्तान की शरण लेनी पड़ी। यों इंगलिस्तान का व्यवसाय बढ़ा।

इंगलिस्तान का भारतवर्ष से संबंध हुआ एक ओर और नई दुनिया से दूसर ओर। योरप में नित्य नई लड़ाइयाँ होने के कारण व्यापार बढ़ने नहीं पाता था। इंगलिस्तान इन लड़ाइयों से मुक्त था। उसके व्यापार ने उन्नति की।

व्यापारियों की उन्नति हुई और सामंतों के पुराने घराने तबाह होने लगे। धीरे-धीरे उनकी जायदाद इन व्यापारियों के हाथ लगी। व्यापारी उन्नतिशील थे। वे लकीर के फ़कीर न थे। उन्हें पुराने असामियों से कोई सहानुभूति भी न थी। उन्होंने बड़े-बड़े खेत बनाये। बहुत से किसान बेकार हो गये।

इधर इंगलिस्तान का व्यापार बढ़ता जा रहा था। माल की माँग बढ़ती जा रही थी। इस माँग को पूरा करने के लिए ऐसी मशीनों की आवश्यकता पड़ी जो शीघ्रता से माल निकाल सकें।

सबसे अधिक माँग कपड़े की थी। इसलिए पहले आविष्कार करघे और चरखे में ही हुए। इंगलिस्तान में लोहे और कोयले की खानें भी हैं। इसलिए दूसरे आविष्कार द्वारा पत्थर के कोयले की सहायता से अंग्रेज़ों ने लोहा साफ़ करना सीखा और फिर अधिक से अधिक लोहे को पीटने की ज़रूरत ने वाट को भाप की शक्ति का प्रयोग बताया, क्योंकि भाप का पहला प्रयोग हथौड़ा चलाने के लिए ही किया गया।

कारख़ाने प्राचीन काल में भी होते थे, परंतु उनमें एक आदमी का काम एक ही आदमी करता था। भाप की शक्ति से एक आदमी १०० आदमियों का काम करने लगा। अब आदमी का काम शारीरिक शक्ति लगाने का नहीं रह गया। अब उसे दिमाग़ी शक्ति ही लगाने की आवश्यकता रह गई।

जब कारख़ाने में अधिक माल तैयार होने की सुविधा हो गई तो माल तैयार करने के लिए कच्चा माल जमा करने और तैयार माल को इधर-उधर बिकने के लिए भेजने की आवश्यकता भी पड़ी।

मनुष्य ने घोड़े की शक्ति से पहिया चलाना सीख लिया था। अब भाप की शक्ति से भी उसने पहिया चलाना सीख लिया। कारखाने के पहिये ने मशीनें चलाईं और रेल पर चलकर उसने माल और मुसाफिर लादना शुरू किया। भाप के इंजिन के बाद भाप से चलने वाले जहाज लगभग १८३० ई० तक बने।

उन्नीसवीं शताब्दी में भाप से भी अधिक उपयोगी शक्ति का आविष्कार हुआ, जिसे बिजली कहते हैं। बिजली से आदि मनुष्य भी परिचित था, परंतु उसकी शक्ति को अपने वश में करना उसने १९ वीं शताब्दी में ही सीखा। इस शक्ति की खूबी यह है कि वह कहीं भी पैदा की जाकर तारों पर दौड़ाई जा सकती है। बिजली की शक्ति से शिक्षा ने बहुत उन्नति की। संसार के एक कोने की घटना की खबर दूसरे कोने तक क्षण-मात्र में पहुँचने लगी। छपाई का आविष्कार हो ही चुका था। अखबार नित्य प्रातः काल संसार की खबरें लिये हुए दर्शन देने लगे।

बीसवीं शताब्दी में पेट्रोल से शक्ति संचालन करने का आविष्कार भी हुआ। पेट्रोल से थोड़ी जगह में अधिक शक्ति उत्पन्न की जा सकती है। इसलिए पेट्रोल के इंजिन बनने पर मोटरकार और हवाई जहाज का आविष्कार हुआ।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से बिजली की शक्ति का एक नया प्रयोग हुआ है, जिससे इस शक्ति का संचालन बिना तार की सहायता के आकाश मार्ग में होता रहता है। बिजली के इस आश्चर्यजनक प्रयोग ने अब मनुष्य के हाथ में बड़ी भारी शक्ति दे दी है इसकी सहायता से अब आप कहीं भी अकेले नहीं रह सकते। उत्तरी ध्रुव प्रदेश की निर्जनभूमि में हों, रेगिस्तान में हों, आकाश में उड़ रहे हों, महासागर के बीच में हों, सब जगह आपको आवश्यक खबरें मिल सकती हैं। सब जगह आप जरूरी खबरें भेज सकते हैं। इस अदृश्य शक्ति की सहायता से समुद्र में चलने वाले और आकाश में उड़ने वाले जहाजों को बहुत सहायता मिलती है। यदि प्रत्येक ऐसे

जहाज़ में बेतार शक्ति का यंत्र न हो तो उसका काम नहीं चल सकता ; वह बहुत शीघ्र खतरे में आ सकता है।

भाप, बिजली और पेट्रोल से प्राप्त शक्तियों को प्रयोग में लाकर मनुष्य ने संसार को बहुत छोटा कर दिया है। अकबर और नेपोलियन को बहुत ज़माना नहीं हुआ। बहुत तेज़ी दिखाकर अकबर ९ दिन में आगरे से सूरत तक पहुँच सका था। उसी तेज़ी से चलकर नेपोलियन वारसा से पेरिस तक ३१२ घंटे में पहुँचा था। अब हवाई जहाज़ द्वारा आप ९ दिन में संसार का पूरा चक्कर लगा सकते हैं। आगरे कलेवा कीजिए, सूरत में रसोई जीमिए, रात रामेश्वरम् में बिताइए।

मार्गों की सुविधा होने के कारण शासकवर्ग को शासन में भी बहुत सुविधाएँ मिल गई हैं। रोमन साम्राज्य के शासकों ने शासन व्यवस्था ठीक रखने के लिए साम्राज्य के एक छोर से दूसरे छोर तक सड़कें बनाई थीं। मौर्य और गुप्त सम्राटों की शासन योजना भी सड़कों तक ही सीमित था। खबर मिलने और पहुँचाने के तो साधन हैं ही, रेलों द्वारा शांति की व्यवस्था करने के साधन भी अब बहुत अच्छे हो गये हैं। प्राचीन काल में किसी बड़े देश को बहुत समय तक संगठित रखना असंभव था। नित्यप्रति बलवे हुआ करते थे, साम्राज्य क्षीण होते रहते थे और धीरे-धीरे समाप्त हो जाते थे। अब शासकवर्ग को अन्य साधनों के अतिरिक्त मार्गों का साधन भी शांति रखने में बहुत सहायता देता है।

आविष्कारों से मार्गों में उन्नति हुई है, उसके साथ-साथ माल तैयार करने की शक्ति और साधन भी बहुत बढ़ गये हैं। कच्चे माल में कुछ खाद्य पदार्थ हैं, जैसे गेहूँ और चावल। जितना गेहूँ और चावल अब पैदा किया जाता है, उतना कभी पहले नहीं पैदा किया जाता था। वैज्ञानिक साधनों में खादों के विषय में बहुत खोज हुई है। पेड़ों की बीमारियों को रोकने के बहुत से साधन निकल आये हैं। मशीनों के आविष्कार हुए हैं, जिनसे बहुत शीघ्र गुड़ाई, बुआई, सिंचाई और कटाई हो सकती है। वैज्ञानिक खोज ने मनुष्य को

रोगों से बहुत-कुछ बचा लिया है। संक्रामक रोगों से बचने के साधन लोगों को मालूम हो गये हैं। जर्राही के हुनर ने बहुत उन्नति की है। सार्वजनिक स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए बहुत से आविष्कार हुए हैं। सभ्य देशों के निवासियों को अच्छा भोजन तो मिलने लगा ही है, रोगों से बचने के साधन मिलने के कारण उनकी जीवन अवधि भी बढ़ गई है।

आधुनिक काल की शक्ति कोयला, लोहा और पेट्रोल में केंद्रित है। जिस शासकवर्ग के हाथ में ये साधन हैं, वही शक्तिशाली है; और दूसरा शासकवर्ग इन शक्तियों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

राष्ट्रीयता के विकास का उल्लेख हो चुका है। कुछ देशों की राष्ट्रीय सीमाएँ प्रकृति ने ही निश्चित कर दी हैं। भारतवर्ष उन थोड़े से भाग्यशाली देशों में है, जिनकी सीमाएँ प्राकृतिक हैं। बाक़ी देशों की राष्ट्रीय सीमाएँ ऐतिहासिक घटनाचक्रों के परिणाम में हैं और खास तौर से योरप में ये सीमाएँ उस समय बनीं, जब आने-जाने के साधन पुराने ढर्रे के ही थे। कुछ देश यों ही बहुत छोटे थे। व्यावसायिक क्रांति के आविष्कारों ने उनकी आबादी बढ़ा दी, परंतु मार्गों की सुविधाओं ने उनकी राष्ट्रीय सीमाओं को संकुचित कर दिया।

व्यावसायिक क्रांति सबसे पहले इंगलिस्तान में शुरू हुई। क्रांति से प्राप्त शक्ति सबसे पहले इंगलिस्तान के हाथ आई। उसको फैलने की आवश्यकता हुई तो मैदान भी उसे खाली ही मिला। अंग्रेज़ों ने उत्तरी अमरीका में उपनिवेश बसाये। भारतवर्ष पर व्यापारिक जाल बिछाकर शासन छत्र खड़ा किया, अफ़्रीका और आस्ट्रेलिया के महाद्वीपों पर अधिकार किया और विश्वव्यापी व्यापार की रक्षा के लिए दक्षिणवर्ती फाकलेंड द्वीप से जिब्राल्टर, माल्टा, स्वेज़, अदन, कोलंबो, सिंगापुर और हांगकांग तक सामुद्रिक व्यापार की कुंजियाँ अपने हाथ में की।

अंग्रेज़ों ने व्यावसायिक क्रांति के अग्रगामी होकर जिस नीति

का प्रचार किया उसमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता का बहुत अंश था। उनके नेता आडम स्मिथ ने अपनी पुस्तक 'वेल्थ आफ नेशंस' द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि प्रत्येक देश के लिए अबाध व्यापार की नीति ही हितकर है; क्योंकि प्रत्येक देश संसार के उपज कार्य में किसी विशेष अंश में सबसे अधिक सफल हो सकता है। उस देश के लिए यही आवश्यक और अच्छा है कि उस उपज में अपनी शक्ति केंद्रित करे और अन्य देशों का भला इसमें है कि विदेश की सफल उपज को बिना किसी चुंगी के अपने प्रयोग में लावे। यह सिद्धांत अंग्रेजों के लिए बहुत लाभदायक था, क्योंकि अपने भोजन और कारखानों के लिए उन्हें कच्चे माल की जरूरत थी और उसका उनके पास बिना चुंगी के पहुँचना ही अच्छा था। उनके तैयार माल को अन्य देशों में खपाने के लिए आवश्यक था कि उनकी अबाध व्यापार को नीति हो। अंग्रेजों की व्यापारिक उन्नति के लिए भी आवश्यक था कि अबाध नीति द्वारा अंतर्देशीय व्यापार की वृद्धि हो, क्योंकि अंग्रेजों के पास ही व्यापारी जहाजों का सबसे बड़ा बेड़ा था, उन्हीं का व्यापारिक जाल सबसे अधिक विस्तृत था।

परंतु यह नहीं कि अंग्रेजों की अबाध व्यापार नीति व्यावसायिक क्रांति के प्रारंभ से ही रही हो। इस क्रांति के प्रारंभ में भारत के तैयार माल की विदेशों में खपत थी। यहाँ का माल अंग्रेजी माल से सस्ता पड़ता था। इसलिए अंग्रेजों ने अपनी राजनैतिक शक्ति का प्रयोग करके इस देश के व्यवसाय को क्षीण किया और फिर चुंगी लगाकर निकले हुए माल की खपत में रुकावटें डालीं। अबाध व्यापार की नीति तो भारतीय व्यवसाय के नष्ट होने पर ही प्रारंभ की गई।

अबाध व्यापार की नीति के साथ-साथ शासक वर्ग के लिए भी यह नीति निश्चित की गई कि व्यवसाय के संबंध में वे कोई हस्तक्षेप न करें। साम्राज्य-विस्तार, हस्तक्षेप न करने की नीति और व्यवसाय तथा व्यापार की उन्नति होने का सम्मिलित परिणाम यह हुआ कि

इंगलिस्तान में पूँजीपतियों का वर्ग बहुत पुष्ट हो गया। यदि उस देश में पूँजीपतियों का उनके विरोधी श्रमजीवी दल से अधिक संघर्ष नहीं हो सका तो उसका सबसे बड़ा कारण था उसका पार्लियामेंटरी शासन, जिसमें श्रमजीवियों के हितैषियों ने घुसकर उनकी रक्षा करने के लिए क़ानून बनवाए, और हस्तक्षेप न करने के सिद्धांत को समाप्त किया। साम्राज्य की उन्नति हो ही रही थी, श्रमजीवियों को भी अंग्रेज़ी व्यापार और प्रभुत्व के असीम लाभ में हिस्सा मिलता रहा। इसलिए इंगलिस्तान में श्रमजीवियों के असंतोष ने कभी भी वह उग्र रूप नहीं धारण किया जिसका अनुभव आगे चलकर अन्य देशों को हुआ।

पूँजी युक्त देशों में इंगलिस्तान के बाद संयुक्त राज्य का नंबर आता है। जो सुविधाएँ इंगलिस्तान को नसीब हुईं विश्वव्यापी साम्राज्य और व्यापार से, वह संयुक्त राज्य को मिलीं एक ऐसी विस्तृत भूमि पर अधिकार प्राप्त करके जिसके गर्भ में अपार धन-राशि संग्रहीत है और जिसके मैदान उर्वरा शक्ति में किसी भी देश से कम नहीं हैं। संयुक्त राज्य का विश्वव्यापी साम्राज्य नहीं है तो उससे स्पर्धा करनेवाला भी कोई देश नहीं है। नई दुनिया पर उसका निष्कंटक प्रभुत्व है और पुरानी दुनिया की उस तक पहुँच नहीं है। इसी कारण बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से जो महान् युद्ध हुए हैं, उनके परिणाम में संयुक्त राज्य की पूँजी बढ़ती ही रही है; और इस समय तो वह संसार का महाजन हो रहा है।

व्यवसाय और साम्राज्य के विस्तार में फ़्रांस इंगलिस्तान से होड़ करता रहा। इस होड़ के साथ पड़ोसी राष्ट्रों से भी उसकी लड़ाइयाँ रहती थीं, जिस कारण वह होड़ में विफल रहा। उसको कई क्रांतियों का सामना करना करना पड़ा और देश में कभी भी पुष्ट शासन-व्यवस्था स्थापित नहीं हो सकी। पूँजीपतियों और श्रमजीवियों का घोर संघर्ष रहा और अंत में शासन का रंग बहुत कुछ श्रमजीवियों के पक्ष में हो गया।

जरमनी की राइन नदी योरपीय व्यापार के इतिहास में बहुत महत्व रखती है। मध्यकाल में भी हैंबर्ग और ब्रेमेन नगरों का योरप के व्यापारिक केंद्रों में प्रमुख स्थान था; परंतु फ्रांस के बाद ही जरमनी पर व्यावसायिक क्रांति का प्रभाव पड़ा। क्रांति प्रारंभ होने पर जरमनी ने अपना बाना बहुत शीघ्र बदला और वैज्ञानिक खोज के सहारे शीघ्र ही औद्योगिक उन्नति में उसका प्रमुख स्थान हो गया।

प्राकृतिक शक्तियों पर अधिकार प्राप्त करने पर औद्योगिक तैयारी सीमित नहीं रह पाती। जितनी मशीनें लगाई जा सकें और उनको जितना कच्चा माल खिलाया जा सके, उतना ही सस्ता माल तैयार होगा। परंतु मशीनों तक कच्चा माल लाने और तैयार माल को बेचने के लिए पूँजीपतियों की आवश्यकता है। योग्य परंतु किफ़ायत से मजदूरी लेनेवाले कर्मचारी भी चाहिएँ। जरमनी को साम्राज्य की सुविधा थी नहीं। इसलिए कच्चा माल ख़रीदने या तैयार माल बेचने में वह इंगलिस्तान या फ्रांस का मुक़ाबला तभी कर सकता था जब वह अपने श्रमजीवियों से कम मजदूरी पर काम ले। इसलिए जरमनी में पूँजीपतियों और श्रमजीवियों के बीच बहुत शीघ्र संघर्ष प्रारंभ हो गया।

श्रमजीवियों के दृष्टिकोण का प्रचार करने वालों में कार्ल मार्क्स का प्रमुख स्थान है। यह कार्ल मार्क्स जरमनी का ही निवासी था और जरमन भाषा में ही उसने पूँजी पर एक पुस्तक लिखी, जिसके प्रति श्रमजीवी नेताओं की वही श्रद्धा है जो ईसाइयों की बाइबिल या मुसलमानों की क़ुरान के प्रति हो सकती है। इस ग्रंथ में उसने यह साबित करने की चेष्टा की है कि जायदाद अथवा पूँजी पर किसी भी व्यक्ति अथवा समूह का अधिकार मान लेने पर मनुष्य की कष्ट-कथा प्रारंभ होती है। इसलिए उपज के जितने साधन हैं, उन पर व्यक्ति का अधिकार नहीं होना चाहिए; श्रमजीवी ही इन साधनों के अधिकारी हैं। क्योंकि इस समय इन साधनों पर पूँजीपतियों का अधि-

कार है, इसलिए पूँजीपति-वर्ग संसार-मात्र में श्रमजीवी वर्ग का दुश्मन है; और इस वर्ग का कर्तव्य है कि राष्ट्रीय बंधनों को तोड़कर अंतर्राष्ट्रीय संघ द्वारा पूँजीवर्ग से उपज के साधनों को छीनने का प्रयत्न करे।

कार्ल मार्क्स का बोया हुआ बीज बहुत समय तक अंकुरित नहीं हो सका, क्योंकि योरपीय व्यापार उन्नति करता गया, अन्य देशों पर योरपीय प्रभुत्व बढ़ता गया, पूँजीपति बढ़ते रहे, परंतु थोड़ा-बहुत लाभ श्रमजीवियों को भी मिलता रहा; उनकी आर्थिक दशा उन्नत होती रही। श्रमजीवियों के अंतर्राष्ट्रीय संघ बढ़ते रहे, परंतु किसी देश में भी उनके दल का प्रभुत्व नहीं हो सका।

व्यावसायिक उन्नति में रूस योरप का सबसे पिछड़ा हुआ देश था। अठारहवीं शताब्दी के मध्यकाल तक रूसी समाज में किसान थे, जिनका दरजा दासों से कुछ ही अच्छा था, या जमींदार थे जो उनकी मेहनत पर मौज करते थे। घरेलू उद्योग बहुत कम थे, विदेशी व्यापार भी कम था। इसलिए रूस में मध्यम वर्ग के लोग बहुत कम थे, जो प्रत्येक देश में राजनैतिक या आर्थिक उन्नति के नेता हुआ करते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में रूसी साम्राज्य पूर्व की ओर बढ़ते-बढ़ते प्रशांत महासागर तक पहुँचा। ज़मींदार शासकवर्ग समृद्धिशाली हुआ, मध्यम वर्ग ने उन्नति की, परंतु किसान की दशा बहुत नहीं सुधरी। ज़मींदार और मध्यम वर्ग में ही कुछ ऐसे नेता निकले जिन्होंने किसान वर्ग की उन्नति की ओर ध्यान दिया। शासकवर्ग ने सुधारों की माँग की अवहेलना की। रूसी 'मीरों' में बिखरे हुए किसानों के हाथ में आंदोलन के साधन कम थे और उन पर यूनानी ईसाई चर्च के अंधविश्वास का दबाव भी था। इसलिए जापान युद्ध में शासक वर्ग की हार होने पर ही आंदोलन कुछ सफल हो सका।

यों रूस में मार्क्स के उपदेश को जड़ पकड़ने का मौक़ा मिला। दमन नीति के कारण आंदोलन नीचे-नीचे सुलगता रहा। शासकवर्ग

के जरमनी से हारने पर जारशाही का अंत हुआ और मध्यम वर्ग के कम होने के कारण श्रमजीवीवर्ग का शासन प्रारंभ हुआ।

रूस ही इस समय संसार का ऐसा देश है, जिसमें श्रमजीवी वर्ग का शासन है। श्रमजीवी दल के नेता कहते हैं कि वह बहुत सफल हुआ है। परंतु इस शासन का विरोध भी बहुत कुछ है; क्योंकि यद्यपि व्यावसायिक क्रांति ने आस्तिकता को बहुत कुछ नष्ट कर दिया है तो भी धार्मिक विश्वासों और गार्हस्थ्य जीवन के बंधनों के प्रति मनुष्य समाज में अब भी श्रद्धा है और श्रमजीवी वर्ग के नेताओं ने निजी जायदाद की जड़ में इन्हीं दो सिद्धांतों को समझ कर इन पर कुठाराघात किया है।

व्यावसायिक क्रांति का सामाजिक जीवन पर जो प्रभाव पड़ा उससे राष्ट्रीय शासन की रूपरेखा भी बहुत कुछ बदली है। व्यावसायिक क्रांति के पहले सामाजिक जीवन पर ग्रामीणता की छाप थी। ग्राम्य जीवन का संगठन प्रत्येक देश में पंचायती रहा है। सामाजिक संगठन का क्षेत्र बढ़ने पर जहाँ ग्राम्यजीवन का नागरिक जीवन से सहयोग हो सका वहाँ मध्यमवर्ग की सहायता से प्रतिनिधि शासन प्रणाली चलाई गई। इंगलिस्तान ने घरेलू व्यवसाय और व्यापार में अठारहवीं शताब्दी के पहले ही बहुत कुछ उन्नति कर ली थी, इसलिए उस देश में नगरों ने बढ़ना प्रारंभ कर दिया था। व्यावसायिक क्रांति से इंगलिस्तान में खेती का व्यवसाय बहुत कम हो गया, गाँव में रहने वालों की संख्या घट गई। नगरों की अधिकांश आबादी भी बढ़ गई। अंग्रेजों की पहली जाति थी जिसके 'नागरिक' नागरिक जीवन व्यतीत करने लगे।

नागरिक जीवन में जितने नियंत्रण और व्यवस्था की आवश्यकता होती है उतनी ग्राम्यजीवन में नहीं होती। प्रतिनिधि शासन प्रणाली के सफल होने के लिए यह आवश्यक है कि निर्वाचन करने वाली जनता और निर्वाचित सदस्य दोनों नियंत्रण और संयम का महत्व समझते रहें। इंगलिस्तान में प्रतिनिधि शासन प्रणाली के सफल होने

के बहुत से कारण हैं। उनमें से एक यह भी है कि उस देश के अधिकतर नागरिक 'नागरिक' जीवन का नियंत्रण समझे हुए हैं।

इंगलिस्तान की देखा-देखी अन्य देशों में व्यावसायिक क्रांति ही नहीं हुई, प्रतिनिधि शासन प्रणाली का उद्योग भी किया गया। व्यावसायिक क्रांति के कारण नागरिकों की संख्या प्रत्येक देश में बढ़ी, ग्राम्यजीवन का भी प्रत्येक देश में ह्रास हुआ, परंतु किसी भी पुराने अथवा नये देश में नागरिक जीवन का प्रभुत्व नहीं हो सका और संयुक्त राज्य को छोड़कर किसी देश में प्रतिनिधि शासन प्रणाली भी सफल नहीं हो सकी।

संयुक्त राज्य का विकास व्यावसायिक क्रांति के साथ ही साथ हुआ। संसार के समृद्धिशाली देशों में संयुक्त राज्य ही ऐसा देश है जो बिजली और पेट्रोल के युग में पला, जिसने चरखा, चक्की और पालकी का जीवन जाना ही नहीं। खेती में भी आबादी कम होने के कारण उसने प्राकृतिक शक्तियों और मशीनों का सहारा लिया। यों देश में खेती का बहुत कुछ व्यवसाय होते हुए भी संयुक्त राज्य का अधिकांश जीवन नागरिक नियंत्रण में ही विकसित हुआ है। इसलिए प्रतिनिधि शासन प्रणाली इस देश में भी सफल हो सकी।

व्यावसायिक क्रांति से सामाजिक जीवन पर जो प्रभाव पड़ा वह उस प्रभाव से कुछ हद तक मिलता है जो दास प्रथा के कारण प्राचीन समाज पर पड़ा था। यूनान का प्राचीन लोकसत्तात्मक शासन और उसका सांस्कृतिक विकास दास प्रथा की भित्ति पर ही था। उस समय पूँजीपतियों ने मनुष्य के बाहुबल से काम लिया। अब उन्हें मनुष्य के बाहुबल की उतनी आवश्यकता नहीं है, उसके मस्तिष्क बल की ही आवश्यकता है। बाहुबल का काम तो वह भाप, पेट्रोल या बिजली की शक्ति से लेता है। इसलिए पूँजीपति ने मनुष्य के बाहुबल को तो स्वतंत्र कर दिया, दासप्रथा तो बंद हो गई, परंतु मनुष्य की बुद्धि पर अधिकार करना आवश्यक था। पूँजीपति वर्ग ने प्रत्येक

देश में किस प्रकार उसके बुद्धि बल पर अधिकार करने का प्रयत्न किया, इसकी कथा बड़ी मनोरंजक है।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में दलित वर्ग के हितैषियों का विचार था कि यदि प्रत्येक मनुष्य को वोट का अधिकार मिल जायगा, तो निर्धन अथवा दलित वर्ग का शासन पर अधिकार हो जायगा, क्योंकि इसी वर्ग का प्रत्येक देश में बहुसंख्यक दल होता है। परंतु हुआ यह कि यद्यपि दलित वर्ग को वोट का अधिकार मिल गया तो भी पूँजीपति के पास उसकी शिक्षा, उसकी बुद्धि पर प्रभाव डालने के साधन थे। इसीलिए दलित वर्ग की संख्या पूँजीपतियों से बहुत अधिक होने पर भी बहुमत पूँजीपतियों के पक्ष में ही रहा। यह अवश्य हुआ कि शासकवर्ग को समाज सेवा के बहुत से काम हाथ में लेने पड़े, दलितवर्ग का बहुत कुछ उद्धार भी हुआ, परंतु किया गया यह सब पूँजीपति वर्ग के मौलिक स्वत्वों को सुरक्षित रख कर ही।

आजकल समाज की शिक्षा के जितने साधन हैं, वे प्रत्येक देश की सरकार के हाथ में हैं, या पूँजीपतियों के हाथ में। सरकारें पूँजीपतियों के हाथ में यों हैं कि चुनाव के लिए धन की आवश्यकता होती है जो पूँजीपतियों से ही मिलता है। पूँजीपति कम होने के कारण शीघ्र संगठित हो सकते हैं और श्रमजीवीवर्ग के बहुत से लोगों को इन्हीं पूँजीपतियों की कृपादृष्टि से रोज़ी मिलने के कारण इस वर्ग का संगठन नहीं पाता। पूँजी द्वारा पूँजीपति श्रमजीवियों से अपने व्यवसाय का ही काम नहीं लेते, उनसे अपने स्वत्वों की रक्षा कराने का काम भी लेते हैं। जब शासनसत्ता पूँजीपतिवर्ग के पक्ष में निर्वाचित होती है तो फिर इस सत्ता द्वारा सार्वजनिक शिक्षा का उद्देश्य वही होता है जो इस वर्ग के पक्ष में हो। आजकल रेडियो और अख़बार समाज में किसी मत का प्रचार करने के बहुत अच्छे साधन हैं। ये साधन भी पूँजीपतियों के पक्ष में काम करते हैं, रेडियो पर सरकारी नियंत्रण होने के कारण और अख़बारों का पूँजी

पतियों की सहायता से चलने के कारण। यों हम देखते हैं कि ब्रिटेन और संयुक्त राज्य में प्रतिनिधि शासन प्रणाली के रहते हुए भी दोनों देशों की शासन व्यवस्था पर पूँजीपतियों का ही प्रभुत्व है, दोनों देशों का शासन महाजनी है।

जिन देशों में कई कारणों से प्रतिनिधि शासन प्रणाली नहीं पुष्ट हो सकी वहाँ पूँजीपतियों और श्रमजीवी वर्ग के सहयोग से अथवा श्रमजीवियों के ही बल से इस शताब्दी में वह शासन व्यवस्था स्थापित हुई है, जिसे तानाशाही कहते हैं।

यों तो दक्षिणी अमरीका का प्रायः प्रत्येक शासन तानाशाही है, यद्यपि ये तानाशाह संयुक्त राज्य के पूँजीपति वर्ग के कठपुतले ही हैं परंतु वास्तविक तानाशाही जरमनी और इटली की ही रही है।

आधुनिक तानाशाहों और प्राचीन काल अथवा मध्यकाल के स्वेच्छाचारी सम्राटों में बहुत बड़ा भेद है। स्वेछाचारी सम्राटों की शक्ति कुछ तो इनके सैन्यबल पर निर्भर थी, बाक़ी अपढ़ प्रजा के धार्मिक विश्वास और श्रद्धा के कारण थी। आजकल के तानाशाह समाज के साधारण अथवा दलितवर्ग में जन्म लेते हैं और योग्यता के बल पर बहुमत के नेता हो जाते हैं। इस बहुमत की सहायता से वे अल्पमत को निर्मूल करने का प्रयत्न करते हैं और उसमें सफल होकर कठोर नियंत्रण द्वारा वे राष्ट्रशक्ति को बढ़ाने का उद्योग करते हैं। राष्ट्र की शक्ति एक योग्य व्यक्ति में केंद्रित होकर जिस हद तक अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संघर्ष में आगे बढ़ती है, उसी हद तक उस तानाशाही की शक्ति देश के भीतर बढ़ती है और देश के बाहर उसका अनुकरण होता है।

यह ठीक नहीं है कि जरमनी और इटली की तानाशाहियाँ पूँजीपतियों की ही सृष्टि है। इनके निर्माण में पूँजीपतियों का सहयोग अवश्य है। परंतु श्रमजीवीदल भी इनका समर्थन करता है। पूँजीपति इसलिए सहयोग करते हैं क्योंकि तानाशाही शासन अंतर्राष्ट्रीय

आर्थिक संघर्ष में संगठित सैन्यबल द्वारा राष्ट्र का व्यापारिक क्षेत्र बढ़ाता है और देश के व्यवसाय और व्यापार को बढ़ने का मौक़ा देता है। श्रमजीवीदल इसलिए समर्थन करता है क्योंकि तानाशाही शासन पूँजीपतियों पर घोर नियंत्रण करके उन्हें श्रमजीवियों को उचित पुरस्कार देने के लिए बाध्य करता है। यों तानाशाहियों को राष्ट्र का संपूर्ण बल प्राप्त होता है। प्राचीन स्वेच्छाचारी सम्राट प्रजा के धार्मिक अंधविश्वास के सहारे शासन करते थे। शक्ति के युग में धर्म की ओर से उदासीनता है। अब राष्ट्रीय संस्कृति की व्याख्या के द्वारा देशभक्ति की भावना जाग्रत की जाती है। इटली में रोमन साम्राज्य के वैभव की याद दिलाई जाती है। जरमनी को आर्यों की आदि भूमि बताया जाता है और आर्य जाति के स्वाभाविक गौरव की व्याख्या की जाती है।

संसार में अभी तक केवल एक ही ऐसा तानाशाही शासन स्थापित हो सका है जिसमें पूँजीपतिवर्ग को नष्ट करके शासन सत्ता श्रमजीवी वर्ग ने ही अपने हाथ में ले ली है। यह शासन रूस में है। रूसी राष्ट्र अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण योरप और एशिया की जातियों पर अपना प्रभाव डालने में समर्थ है ही, उसके राजनैतिक संदेश का भी पड़ोसी देशों के दलित दलों पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। इसलिए भयभीत पूँजीपति वर्ग ने रूस के विरुद्ध बहुत कुछ प्रचार किया, परंतु जाग्रत रूस आधुनिक काल में बीस वर्ष के भीतर कितनी असीम उन्नति कर सका, और फिर किस प्रकार जरमनी से सफल लोहा लेकर उसने अपनी उन्नति को प्रमाणित किया, उससे विरोधी दल का मुँह बहुत कुछ बंद हो गया है और रूसी साम्यवाद का भविष्य बहुत उज्ज्वल दिखाई देने लगा है।

आधुनिक काल की स्वतंत्र और संगठित तानाशाहियों का सामना करने में प्रतिनिधि प्रणाली पर संगठित महाजनी शासनों को बहुत कठिनाई मालूम पड़ रही है। इसलिए इंगलिस्तान और संयुक्त राज्य ऐसे देशों में भी राष्ट्र की शक्ति एक व्यक्ति अथवा सीमित दल के हाथ

में केंद्रित होने लगी है। यह युग जनता पर राष्ट्रीय शासक वर्ग के नियंत्रण ही का होता दिखाई देता है।

व्यावसायिक क्रांति के आविष्कारों का सबसे अधिक प्रभाव योरप पर पड़ा है और योरपीय सभ्यता का संदेश लेकर ही इन आविष्कारकों ने संसार के बाक़ी महाद्वीपों के सामाजिक जीवन को प्रभावित किया है। अमरीका, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया के आदि समाज का जीवन तो प्रायः इतना भ्रष्ट हो गया है कि उस समाज के बचे-खुचे स्त्री-पुरुषों की स्थिति प्राचीन काल के दास समाज से कुछ अच्छी है। संयुक्त राज्य और कनाडा के मूल निवासी बहुत कुछ नष्ट हो गये हैं, क्योंकि इन भागों में बसे हुए योरपीय प्रवासियों ने उसी नीति का अनुसरण किया जिससे भारत में शूद्रों की सृष्टि हुई। परंतु मेक्सिको से लेकर अर्जेनटाइन तक बसे हुए स्पेनी और पुर्तगाली प्रवासी बहुत कुछ इन देशों के मूल निवासियों से मिल जुल गये हैं, यद्यपि शासन सत्ता अब तक उन्हीं लोगों के हाथ में है, जिनमें योरपीय अंश अधिक है। इन देशों की आबादी कम होने के कारण प्रवासियों को मेहनत बचाने के साधनों की आवश्यकता तो थी ही, अतः मशीनों से उन्हें मनचाही सहायता मिली और वैज्ञानिक आविष्कारों को सफल होने का अच्छा क्षेत्र मिला।

अफ्रीका और आस्ट्रेलिया में बसी हुई जातियाँ सभ्यता में बहुत नीचे थीं। इसलिए इनके नष्ट होने में बहुत समय नहीं लगा। परंतु ये महादेश आविष्कारों से विशेष लाभ न उठा सके क्योंकि इनके बहुत से भाग उष्णकटिबंध में होने के कारण योरपीय जातियों के बसने योग्य न थे। तो भी सत्ता के मोह में फंसे हुए योरपीय प्रवासियों ने एशिया के निवासियों को उनमें बसने का मौक़ा न दिया, यद्यपि उष्णप्रधान देशों में बसी हुई सभ्य एशियाई जातियाँ इनमें सफलता-पूर्वक बसकर इन नये देशों को उन्नत कर सकती थीं। यों ये देश बहुत बड़े होते हुए भी बहुत निर्बल हैं और अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष में

सफल योरपीय अथवा एशियाई जातियों के बीच इनका बँटवारा अभी कुछ समय तक होता रहेगा।

एशियाई देशों में आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों को सफल होने में बहुत-सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। इन देशों की परंपरा बहुत प्राचीन है। निवासियों को अपनी-अपनी सभ्यता, अपने घरेलू व्यवसाय पर, नाज़ है। आबादी भी इतनी है कि मेहनत बचानेवाली मशीनों को बेकार मनुष्यों का सामना करना पड़ता है, और बेकारी के प्रश्न के सामने मशीन को प्रायः दबना पड़ता है। इतना होते हुए भी एशियाई देशों पर आधुनिक आविष्कारों का रंग जम रहा है।

एशिया के जिन देशों ने आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों को अपनाया है और अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संघर्ष में सम्मिलित होने की चेष्टा की है उनमें जापान सबसे आगे है।

जापान में व्यावसायिक क्रांति के आविष्कार लगभग उसी समय पहुँचे, जिस समय वे भारतवर्ष में लाये गये। भेद इतना ही था कि जापान स्वतंत्र था और भारतवर्ष आविष्कारकों के अधीन हो चुका था। भारतवर्ष में अभी तक वैज्ञानिक आविष्कारों के अनुसार व्यावसायिक परिवर्तन नहीं हो पाया है। जापानियों ने इन आविष्कारों का इस हद तक प्रयोग किया है कि व्यावसायिक होड़ में वे अब अपने योरपीय उस्तादों का सामना करने पर उतारू हैं।

जिस समय जापान में आधुनिक विज्ञान पहुँचा उस समय तक देश में यथेष्ठ सांस्कृतिक जागृति हो चुकी थी। कलाकौशल में भी उन्नति हो चुकी थी। समाज पर सामंत-प्रथा का कठोर नियंत्रण था और शासन-सत्ता प्रजा के सम्राट के प्रति धार्मिक विश्वास पर अवलंबित थी।

जापान ने आधुनिक विज्ञान के साथ पश्चिमी देशों की लोकसत्तात्मक शासन-प्रणाली को भी अपनाया। प्रतिनिधि शासन-प्रणाली के सफल होने के लिए दलबंदी की आवश्यकता है। परंतु जापान में

दलबंदी कभी सफल नहीं हो सकी। जो लोग सामंत थे उनमें से बहुत से व्यवसाय के नेता हो गये। शासनसत्ता उन्हीं के हाथ में रही। जब तक जापान का व्यवसाय देश के भीतर उन्नति करता रहा और विदेशों से उसकी होड़ नहीं हुई तब तक जापानी व्यवस्थापक सभा के नेताओं का शासन पर यथेष्ठ प्रभाव भी रहा। परंतु शीघ्र ही जापानी व्यापार को फैलने की आवश्यकता मालूम होने लगी क्योंकि मशीनों से तैयार किया हुआ माल जापान की घरेलू आवश्यकता से अधिक था। जापान के लिए चीन का बाज़ार अपना माल खपाने के लिए बहुत निकट था और चीन में व्यावसायिक क्रांति न होने के कारण जापानी माल की खपत का मौक़ा भी था, परंतु उस समय तक योरपीय जातियों ने भी चीन पर अपना व्यापारिक प्रभुत्व जमाना शुरू कर दिया था। जापान खुल्लमखुल्ला समृद्ध योरपीय जातियों का विरोध नहीं कर सकता था; इसलिए अपनी रक्षा का बहाना लेकर उसने पहले (१८६४) चीन से लड़ाई जीतकर कोरिया पर अधिकार किया; फिर (१६०५) रूस से लड़कर मंचूरिया नामक देश पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का मार्ग खोल लिया।

महासमर में योरपीय जातियों के लड़ाई में फँसे रहने के कारण जापानी व्यवसाय ने और भी उन्नति की। लड़ाई से फ़ुरसत पाने पर योरपीय राष्ट्रों ने जापान के बढ़ते हुए व्यवसाय को चुंगी लगाकर रोकना चाहा। जापान ने कहीं और मौक़ा न देखकर पड़ोसी चीन के बाज़ार पर अधिकार करना निश्चित किया। परंतु चीन में भी जागृति प्रारंभ हो गई थी। धीरे-धीरे इस जागृति ने जापानी माल के बहिष्कार करने का उग्र रूप धारण कर लिया। ऐसी दशा में जापान ने उस शक्ति की सहायता से जो उसने वैज्ञानिक आविष्कारों के सहारे प्राप्त कर ली थी, चीन पर अपने पग बढ़ाना प्रारंभ कर दिया। इस समय तक अमूर से सीकयांग नदी तक के एशियाई देश का बहुत कुछ भाग जापानी प्रभुत्व के भीतर है।

जापान के योद्धा ही देश के नेता रहे हैं। कुछ समय से पूँजी-

पतियों और सैनिक नेताओं की होड़ चली आ रही थी। जापान की एशियाई दिग्विजय ने पूँजीपतियों को दबा दिया और शांत भी कर दिया। पूँजीपतियों के दबने से दलबंदी शासन का अंत हुआ और राष्ट्रीयता के नाम पर सैनिक नेता शासन के नेता भी हो गये। जापान की विजय ने पूँजीपतियों को अपनी रक़म लगाने का मौक़ा दे दिया। यों वे शांत भी हो गये।

सैनिक शासन के जापान में सफल होने का एक और कारण है। जापानी सेना जापान के किसानों और श्रमजीवियों की सेना है। उसके नेता दलित किसानों और श्रमजीवियों के उद्धार करने का प्रयत्न करते हैं। इसलिए जापानी सैनिक शासन के पीछे उसी प्रकार देश की राष्ट्रीय शक्ति है, जिस प्रकार वह जरमनी और इटली की तानाशाहियों के पीछे है। इस सैनिक शासन को धार्मिक परंपरा की भी शक्ति प्राप्त है जो तानाशाहों के भाग्य में नहीं है; क्योंकि जापानी सम्राट को देश की दैवी शक्ति का साकार रूप मान लिया गया है। और कोई जापानी नागरिक ऐसा नहीं है, जिसके हृदय में सम्राट के प्रति श्रद्धा और त्याग का भाव जन्म से ही न पुष्ट किया जाता हो। यों जापान का तानाशाही संगठन, जिसमें व्यक्ति का अधिकार राष्ट्र की वेदी पर समर्पित कर दिया जाता है, उस समय भी रह सकेगा, जिस समय जरमनी और इटली के वर्तमान विधाता इस लोक से कूँच कर चुके होंगे।

एशिया के अन्य देशों के सामाजिक जीवन पर व्यावसायिक क्रांति के प्रभाव की विशेष व्याख्या नहीं करना है। प्रत्येक देश के व्यवसाय और व्यापार में प्राकृतिक शक्तियों का उपयोग बढ़ाया जा रहा है। भारत में रेलों तथा तारों का जाल सा बिछ गया है और घरेलू व्यवसाय के पुनरुद्धार का आंदोलन होते हुए भी कल-कारख़ाने बढ़ते जा रहे हैं। नागरिक जीवन बढ़ता जा रहा है। देहाती जीवन का ह्रास होता जा रहा है। देश के भीतर आने-जाने की सुविधाओं के बढ़ने से एक ओर शासन की कठिनाइयाँ कम हो गई हैं तो दूसरे

और राष्ट्रीय भावों को भी संगठित होने का अवसर मिला है। परंतु ये भाव अभी तक इतने सबल नहीं हो पाये हैं कि देश स्वतंत्र हो सके।

भारत के पूर्व में स्याम और पश्चिम में अफ़ग़ानिस्तान से लेकर तुर्की तक एशियाई देश स्वतंत्र अवश्य हैं, परंतु इनमें से कोई भी देश प्राकृतिक शक्तियों का यथेष्ट उपयोग नहीं कर सका है। इन देशों में रेलों का प्रचार बहुत कम हो सका है और कल-कारख़ाने भी थोड़े बहुत ही बढ़ सके हैं। ईरान के पास तो तेल की खानों के कारण पेट्रोल की शक्ति का बहुत बड़ा साधन है। परंतु यह साधन एक अंग्रेज़ी कंपनी के ही अधिकार में है। ईरान की सरकार को रायल्टी लेकर ही संतोष करना पड़ता है।

इस समय जिन देशों ने संसार की उत्पादक शक्ति का हिस्सा-बाँट कर रक्खा है, उनमें प्रमुख नाम हैं ब्रिटेन, संयुक्त राज्य, फ़्रांस, जरमनी, इटली, रूस और जापान। जिस समय ब्रिटेन व्यावसायिक क्षेत्र में अकेला ही था, उस समय उसे साम्राज्य बढ़ाने के साथ-साथ कच्चे माल की ख़रीद और तैयार माल की खपत के साधन मिले। वह संसार का महाजन हुआ और अबाध व्यापार की नीति उसके लिए सफल हुई। परंतु उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक व्यावसायिक क्षेत्र में उसका मुक़ाबला करने वाले देश निकल आये। ब्रिटेन के तैयार माल की खपत कम होने लगी। उससे होड़ करने वाले देश अबाध व्यापार के हामी न थे। वे विदेशी माल पर चुंगी लगाकर स्वदेशी व्यवसाय की उन्नति करते और आवश्यकता से अधिक माल को सस्ते दाम पर बाहरी देशों में बेचने का प्रयत्न करते। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से ब्रिटेन में अबाध व्यापार के विरुद्ध आंदोलन होने लगा और धीरे-धीरे ब्रिटेन ने भी अपने साम्राज्य के व्यवसाय की रक्षा के लिए चुंगी की वह व्यवस्था प्रारंभ की जिसे इंपीरियल प्रिफ़रेंस कहते हैं। इस नीति से ब्रिटेन को तो लाभ नाम मात्र का ही हुआ, ब्रिटिश साम्राज्य का विरोध अन्य देशों से होने लगा। जो देश ब्रिटेन से होड़

करने वाले थे उनमें संयुक्त राज्य ने दक्षिणी अमरीका के देशों पर अपना महाजनी जाल बिछाकर अपनी व्यापारिक शक्ति को पुष्ट किया। फ्रांस के अधिकार में एक विशाल साम्राज्य था ही, और फ्रांस का व्यवसाय भी ऐसा नहीं है जिसकी ब्रिटेन से अधिक होड़ हो। इसलिए उसे ब्रिटेन की ओर से बिगड़ने की कोई जरूरत न थी। परंतु जरमनी, इटली, रूस और जापान इंपीरियल प्रिफ़रेंस की नीति से भड़क गये। रूस के पास एशिया में एक विशाल साम्राज्य है ही। उसे साम्राज्य की उत्पादन शक्ति को ही बढ़ाना था। सो पाँच-वर्षीय योजनाओं द्वारा पंद्रह-बीस वर्ष के भीतर उसने बहुत-कुछ बढ़ा ली और जो कुछ कसर रह गई होगी, उसे वह इस महासमर के अंत तक पूरा कर लेगा।

जरमनी, इटली और जापान के पास साम्राज्य की कोई शक्ति न थी। जापान ने अपने श्रमजीवियों और पूँजीपतियों पर कठिन नियंत्रण करके सस्ते माल द्वारा अपना व्यापार बढ़ाने का प्रयत्न किया, परंतु अन्य देश चुंगी बढ़ाकर उसी प्रकार जापानी माल की रोक थाम करते रहे, जिसके परिणाम में जापान ने पड़ोसी चीन पर आक्रमण करके एशिया के एक बहुत बड़े बाजार पर अधिकार करने का निश्चय किया।

महासमर में जरमनी के उपनिवेश छिन गये थे और इटली को मित्र राष्ट्रों का साथ देने के इनाम में यथेष्ट नहीं मिला था। इसलिए दोनों देशों में शासन-व्यवस्था के वे परिवर्तन हुए जिनसे वे अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाकर उन्नत साम्राज्यों से लोहा ले सकें।

यों व्यावसायिक क्रांति का परिणाम हुआ है आर्थिक राष्ट्रीयता, जिससे राष्ट्रीय क्षेत्र में पूंजीपतिवर्ग और श्रमजीवीदल का पारस्परिक संघर्ष बढ़ गया है और अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कमजोर देशों पर प्रभुत्व प्राप्त करने के लिए शक्तिशाली देशों की पारस्परिक स्पर्धा बढ़ गई है।

अंतर्राष्ट्रीय स्पर्धा का अंतिम निर्णय युद्ध-क्षेत्र में ही होता है

और आधुनिक विज्ञान ने युद्ध के ढंग में भी घोर परिवर्तन कर दिया है। युद्ध का अटल नियम है प्रगति और लोहे की बौछार। कोई समय था जब पैदल सिपाहियों की मारकाट से ही युद्ध का निर्णय हो जाता था। धनुष-बाण की सहायता और घोड़े के सहयोग से युद्ध में प्रगति का पहला समागम हुआ। पंद्रहवीं शताब्दी में बारूद के आविष्कार ने योरप को संसार की दिग्विजय का मार्ग दिखाया। बीसवीं शताब्दी में समुद्र पर जलमग्न नौकाओं और आकाश में वायुयानों ने लड़ाई के ढंग को बिलकुल बदल दिया है। लड़ाई के ढंग में कितना परिवर्तन हो रहा है, इसका अनुमान यों लगाया जा सकता है कि पहले महासमर के सौ वर्ष पहले जो योरपीय युद्ध नेपोलियन के कारण हुए थे वे उस महासमर के ढंग के मुक़ाबले उतने ही दक़ियानूसी थे जितने कि बीस वर्ष बाद वर्तमान महासमर के मुक़ाबले विगत महासमर के ढंग दक़ियानूसी मालूम हो रहे हैं। दुश्मन को भूखा रखकर परास्त कर लेने का ढंग बहुत पुराना है। परंतु प्राचीन काल में दुश्मनी किसी क़िले की हद तक ही सीमित रहती थी और क़िले के भीतर रहनेवाले सिपाहियों को ही घेरे का सामना करना पड़ता था। अब देश को घेरने का प्रयत्न किया जाता है। सिपाहियों के साथ-साथ निरीह बाल-बच्चों को भी भूख का सामना करना पड़ता है।

वैज्ञानिक खोजों ने साधारण मनुष्य के हाथ में आनंद के वे साधन दे दिये हैं जो प्राचीन काल में बड़े-बड़े रईसों को नसीब न थे। परंतु क्या उनके कारण मनुष्य अधिक सुखी है? यदि नहीं, तो क्यों?

८. नवीन युग

इस शताब्दी की आधी यात्रा समाप्त होने के पहले ही घटना-चक्र ने इतनी तेज़ी पकड़ी है कि जिस नवीन युग को हम बहुत दूर समझते थे

वह अब बहुत निकट आ गया है। संसार पर घोर संकट है। संसार का इतिहास युद्धों की कथाओं से भरा पड़ा है। परंतु जितना घोर युद्ध हमारे सामने कई वर्ष से हो रहा है, जितनी जातियाँ उसमें सम्मिलित हुई हैं, विश्व-संस्कृति की विभूतियों की जितनी हत्या इसमें हुई है, उतनी कभी नहीं हुई। हमें अपनी सभ्यता का बहुत घमंड है। हम समझते हैं कि हम सभ्यता में, मानवता में, अपने पुरखों के बहुत आगे हैं। परंतु हम देखते हैं कि हमारी पाशविक प्रवृत्तियों में कोई विशेष कमी नहीं हुई है। वैज्ञानिक खोजों के पहले, शिक्षा और राष्ट्रीयता के अभाव में, ये प्रवृत्तियाँ उतनी व्यापक न थीं, जितनी कि अब हैं। पहले स्वार्थी सम्राटों और उनकी सीमित सेनाओं तक ही युद्ध की प्रवृत्ति सीमित थी, अब वह राष्ट्र के प्रत्येक नर-नारी तक व्याप्त है। और जो राष्ट्र युद्ध में भाग नहीं ले रहे हैं, उन पर भी युद्ध का भय सवार है। वे भी युद्ध की आशंका में वैज्ञानिक आविष्कारों को संहार के लिए काम में ला रहे हैं।

आधुनिक संस्कृति पर योरपीय सभ्यता का पूरा रंग है। यह सभ्यता वैज्ञानिक खोजों के ही सहारे दिग्विजय कर सकी, परंतु इस दिग्विजय के साथ वह मनुष्य को शांति नहीं दे सकी, क्योंकि उसमें सात्विकता की कमी थी। उसने ऐहिक ऐश्वर्य को पारलौकिक आनंद से अधिक महत्वपूर्ण समझा। ईसाई धर्म के बहाने योरपीय जातियों को जो सात्विकता का संदेश मिला, उसके पथ-भ्रष्ट होने पर पंद्रहवीं शताब्दी से यूनानी संस्कृति का पुनरुद्धार हुआ, जिसमें धार्मिकता का अंश बहुत कम था। जाग्रत योरपीय संस्कृति का रूप वैज्ञानिक था और समय पाकर वैज्ञानिक खोजों द्वारा उसे वह शक्ति प्राप्त हुई जिसके सहारे वह विश्वविजयी हुई।

विश्वविजयी होकर भी जो यह संस्कृति विश्वशांति स्थापित न कर सकी उसका कारण था उसके मूल में स्वार्थ की अधिकता। इस स्वार्थ ने योरपीय जातियों को एशिया और अफ्रीका की सवर्ण जातियों पर अत्याचार करना, उनसे घृणा करना, सिखाया; योरपीय राष्ट्रों

के भीतर पारस्परिक कलह बढ़ाई और प्रत्येक राष्ट्र के भीतर पूँजी-पति और श्रमजीवी का पारस्परिक वैमनस्य बढ़ाया।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से वे जातियाँ, जिन पर योरपीय जातियों ने अपना पंजा जमा रक्खा था, जाग्रत होने लगीं। रूस-जापान युद्ध में रूस की हार से एशियाई जातियों को अपने उद्धार का पहला संदेश मिला। परंतु जापान के संदेश का अर्थ यही था कि विज्ञान और संगठन से जिस पाशविक शक्ति का प्रयोग करके योरपीय जातियों ने एशियाई जातियों को अपने वश में किया, उसी शक्ति का प्रयोग एशियाई जातियाँ भी कर सकती हैं।

जापान की विजय ने एशियाई जातियों को एक और संदेश दिया और वह यह था कि विजय के लिए संगठन और विज्ञान की आवश्यकता तो है, परंतु सामाजिक जीवन को अधिक जटिल और अपव्ययी बनाना आवश्यक नहीं है। मनुष्य की मशीन को ठीक रखने के लिए उस पर ख़र्च करने की आवश्यकता तो है, परंतु जिस सीमा तक योरपीय सभ्यता के भीतर ख़र्च बढ़ा दिया गया है, जीवनचर्या को महँगा कर दिया गया है, वह इस सभ्यता के लिए ही हानिकारक है। महँगा जीवन बराबर की योग्यता के सस्ते जीवन की होड़ में टिक नहीं सकता।

यद्यपि जापान के संदेश में जीवन के सादे सौंदर्य की ख़ूबी अवश्य थी, परंतु योरपीय प्रभुत्व से जान छुड़ाने का जापान ने वही पाशविक मार्ग दिखाया जो उसने योरप से सीख रक्खा था। इसका फल यह हुआ कि जब भारतवर्ष में भी स्वतंत्र होने की उत्तेजना प्रबल हुई तो पहले उसने पाशविक मार्ग ही पकड़ा। आयरलैंड ने बायकाट और बम के हथियार लेकर लगभग सौ वर्ष से इंगलिस्तान के विरुद्ध स्वतंत्रता का युद्ध छेड़ रक्खा था। कुछ योरपीय सभ्यता के प्रभाव में आये हुए जोशीले नवयुवकों ने स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए इसी मार्ग का अनुसरण किया। परंतु गुप्त मंडलियाँ बनाकर पाशविक अस्त्रों द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त करना भारतीय संस्कृति के विरुद्ध है।

इसलिए कुछ बहके हुए नवयुवकों को छोड़कर बाक़ी जनता ने इस ढंग के आंदोलन का साथ नहीं दिया। आंदोलन विफल रहा और प्रथम महासमर के समय तक (१९१४) देश के भीतर कोई ऐसा नेता नहीं निकल सका जो भारतीय संस्कृति के अनुकूल स्वराज्य प्राप्त करने के साधन भारतीय जनता के सामने रखता।

जापान की विजय का पड़ोसी चीन पर भी प्रभाव पड़ा। देश के भीतर राष्ट्रीय आंदोलन बढ़ने लगा और सन् १९१२ तक चीनी राष्ट्रीय क्रांति मंचू राज्य को नष्ट करने में सफल हुई। परंतु यद्यपि क्रांति के नेता नष्ट करने में सफल हुए तो भी उसकी जगह पर कोई स्थायी राष्ट्रीय शासन व्यवस्था स्थापित न कर सके। देश के भीतर अशांति बढ़ती रही। प्रजा पर अत्याचार बढ़ता रहा। योरपीय शक्तियाँ चीन के अलग-अलग क्षेत्रों पर अपने प्रभाव बढ़ाती रहीं, जिसका अंतिम परिणाम यह हुआ कि जापान ने चीन साम्राज्य पर अपना प्रभुत्व बढ़ाना प्रारंभ किया। कोरिया पर उसका पहले से ही अधिकार था। महासमर के बाद योरपीय राष्ट्रों को पारस्परिक झगड़ों में पड़ा देखकर जापान ने पहले मंचूरिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया (१९३२) और फिर चीन पर हाथ बढ़ाया (१९३७), जिस कारण चीन के बहुत कुछ भाग पर जापान का अधिकार हो गया। जापान की योरपीय सभ्यता से प्रभावित शक्ति द्वारा चीन की स्वतंत्रता का अपहरण होना कोई अच्छी बात नहीं हुई, परंतु जापान की चोट खाकर चीन का राष्ट्रीय भाव बहुत पुष्ट हो गया है और यह आशा की जाती है कि यदि चीनी अपने देश को जापान से स्वतंत्र कर सके तो वे उसे योरपीय प्रभुत्व से भी स्वतंत्र कर सकेंगे।

ब्रिटेन, संयुक्त राज्य और फ्रांस को अपने तईं प्रतिनिधि शासन सत्ता का पोषक कहने का सौभाग्य प्राप्त है। परंतु प्रतिनिधित्व और बराबरी का सिद्धांत गोरे लोगों के लिए—योरपीय लोगों तक—ही सीमिति है। संयुक्त राज्य के भीतर काले रंग के निग्रो लोगों की बुरी दशा है। फ्रांसीसी साम्राज्य में फ्रांसीसी समानता और स्वतंत्रता के

सिद्धांत फ़्रांसीसियों के लिए ही हैं। ब्रिटेन स्वतंत्रता और प्रतिनिधि प्रणाली का सबसे बड़ा हामी है, परंतु ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर ही स्वतंत्र गोरों की अपेक्षा परतंत्र कालों की संख्या बहुत अधिक है, यद्यपि यह मानना पड़ेगा कि अन्य गोरी जातियों की अपेक्षा अंग्रेज़ों का सवर्ण परतंत्र जातियों पर बहुत हलका जुआ रहा है।

गोरों की कालों के प्रति जो घृणित प्रवृत्ति है, उसका ज्वलंत प्रदर्शन अफ़्रीका महाद्वीप में होता है। कहा जाता है कि मध्यकाल में मुसलमान शासकों का विधर्मी प्रजा पर बहुत अत्याचार रहा। अत्याचार की कहानियाँ बहुत कुछ गढ़ी हुई हैं। परंतु यदि उनको मान भी लिया जाय तो इतना और मान लेना पड़ेगा कि दलित जनता को अत्याचार से मुक्त होने के लिए मार्ग भी था, और वह था इस्लाम को क़बूल कर लेना। परंतु जो अत्याचार योरपीय सभ्यता का संदेश लाने वाले गोरों का एशिया और अफ़्रीका की जातियों पर है उससे छुटकारे का कोई मार्ग ही नहीं है, क्योंकि ये जातियाँ ईसाई होकर, कोट, पतलून और हैट पहन कर भी, अपना रंग, अपनी जाति तो नहीं बदल सकतीं। उनका छुटकारा तो यों ही है कि वे स्वयं नष्ट हो जायँ।

अफ़्रीका महाद्वीप का दक्षिणी भाग ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर है। इस भाग को आंतरिक स्वतंत्रता प्राप्त है, परंतु यह स्वतंत्रता गोरे लोगों के लिए ही है। उसी भूमि के आदि निवासी उससे वंचित हैं। अंग्रेज़ी शासन होने के कारण उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम भाग में वहाँ कुछ हिंदुस्तानी भी बस गये थे। वहाँ के गोरों में भी कुछ लोग हैं जो अंग्रेज़ों के बसने के पहले से बसे हुए थे। इन्हें बोअर कहते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक अंग्रेज़ों और बोअरों की लड़ाई हो गई जिसमें प्रवासी हिंदुस्तानियों ने अंग्रेज़ों को सहायता दी। परंतु शांति स्थापित होने पर सन् १६०६ में, दक्षिणी अफ़्रीका को जब से स्वराज्य मिला तब से हिंदुस्तानी प्रवासियों के बुरे दिन आये और उन पर अत्याचार होने लगे।

इस स्थिति में इन प्रवासियों के बीच मोहनदास करमचंद गांधी नामक एक गुजराती बारिस्टर पहुँचा, जिसकी गिनती अब संसार के महापुरुषों में है। अत्याचार का प्रतीकार साधारणतः दुराग्रह द्वारा किया जाता है, जिसके सफल होने पर अत्याचारी तो नष्ट हो जाता है परंतु अत्याचार की प्रवृत्ति नष्ट नहीं होती। इस दुराग्रह के स्थान पर गांधीजी ने सत्याग्रह का प्रयोग किया। इस सत्याग्रह की विशेष व्याख्या करना पाठकों के लिए आवश्यक नहीं है क्योंकि इस शब्द से अब प्रायः प्रत्येक भारतीय परिचित है। परंतु इतना बता देना आवश्यक है कि यद्यपि दुराग्रह अथवा विद्रोह का उद्देश्य वही है जो सत्याग्रह का है, परंतु दानों के अस्त्र एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं। दुराग्रह को सहारा है असत्य, अस्त्र और हिंसा का, तो सत्याग्रह को सहारा है केवल सत्य, प्रेम और अहिंसा का। दुराग्रह अत्याचारी को नष्ट करके ही सफल होता है, सत्याग्रह अत्याचारी को सुधारकर ही अत्याचार को नष्ट करता है।

यों तो सत्याग्रह भारतीय संस्कृति के अनुकूल है, क्योंकि संसार के सर्वप्रथम उपदेशक महात्मा बुद्ध, जिन्होंने अहिंसा का प्रचार किया, इसी देश के निवासी थे और यद्यपि बौद्ध धर्म का प्रचार अब भारत में नहीं है तो भी वैष्णव धर्म द्वारा अहिंसा का उपदेश तो अब भी हिंदू समाज में व्याप्त है, परंतु गांधीजी पहले पुरुष हैं, जिन्होंने अत्याचार का प्रतीकार करने के लिए अहिंसा और सत्य के उपदेश को व्यावहारिक रूप दिया। गांधीजी को दक्षिणी अफ्रीका में सत्याग्रह से यथेष्ट सफलता मिली।

ऐसे समय योरपीय सभ्यता और प्रभुत्व को महासमर द्वारा बहुत भारी धक्का पहुँचा। आर्थिक प्रतिद्वंद्विता और साम्राज्य-लिप्सा की होड़ में एक ओर थी वे शक्तियाँ, जिनके पास सब कुछ था, और दूसरी ओर थीं वे जिन्हें उन शक्तियों से कुछ छीनने की फ़िक्र थी।

सन् १९१४–१८ का पहला महासमर था जिसमें आधुनिक विज्ञान की शक्तियों का बहुत बड़े पैमाने पर प्रयोग हुआ। लड़ाई के

साधनों में प्रचार का भाग बहुत महत्वपूर्ण है। ब्रिटेन, फ्रांस और रूस एक ओर थे; जरमनी और आस्ट्रिया नामक दे। दूसरी ओर थे। मित्र राज्यों के नेतृत्व में और सब शक्तियों के साथ-साथ प्रचार की शक्ति का भी बहुत सफल प्रयोग हुआ। तार, अखबार, पुस्तकों और व्याख्यानों द्वारा पूरे सभ्य संसार को सफलतापूर्वक समझा दिया गया कि मित्र राज्य संसार में स्वतंत्रता और समानता की रक्षा के लिए ही लड़ रहे हैं। महात्मा गांधी की समझ में यही आया। उस समय संयुक्त राज्य पर वुडरो विल्सन नामक एक बहुत शुद्ध-प्रवृत्त मुदर्रिस का शासन था। उसकी समझ में भी यही आया। दुश्मनों की संगठित शक्ति पर एक ओर से रूसी क्रांति का प्रभाव पड़ा। दूसरी ओर संयुक्त राज्य के प्रधान ने मित्र राज्यों का युद्ध में साथ देकर सभ्य संसार के सामने स्वतंत्रता की रक्षा और युद्ध-नीति का निराकरण करने के साधन रक्खे। शत्रुओं के हृदय में आशा हुई कि उन्हें अपनी भूल के लिए बहुत कठोर दंड नहीं भुगतना पड़ेगा। उन्होंने हथियार रख दिये।

यह विश्वास किया जा सकता है कि महासमर की प्रगति में मित्र राज्यों के भाव सात्विक ही थे, जिसका थोड़ा-बहुत प्रमाण अगस्त १६१७ की घोषणा से मिलता है, जो अंग्रेजी सरकार ने भारत को क्रमशः स्वराज्य देने के लिए की थी; परंतु विजय होने पर विजेता जातियों की बदला लेने की प्रवृत्ति को उनके नेता रोक न सके। फलतः सभ्य संसार को बहुत धोखा हुआ। वुडरो विल्सन के आदर्शवाद की ब्रिटेन और फ्रांस के तत्कालीन नेताओं ने बड़ी दुर्गति की। शत्रु राज्यों के टुकड़े-टुकड़े कर दिये गये। स्वतंत्रता के नाम पर जरमनी, रूस और आस्ट्रिया को काटकर बहुत से छोटे छोटे राज्य बना दिये गए। जरमनी पर अतुल धनराशि का जुर्माना हुआ। युद्ध का निराकरण करने के लिए राष्ट्र-संघ की योजना हुई। परंतु इस राष्ट्र-संघ का यही उद्देश्य समझा जाता रहा कि महासमर के पश्चात् विजेता राज्यों ने योरप और संसार का जो विभाजन किया है,

उसकी रक्षा की जाय। इतने आदर्शवाद के साथ-साथ यह प्रस्ताव नामंज़ूर कर दिया गया कि प्रत्येक जाति के लोग, चाहे वे गोरे हों अथवा काले, समान माने जायँ। समानता और स्वतंत्रता के सिद्धांत योरपीय जातियों तक ही सीमित रक्खे गये।

सन् १९१८ में महासमर के समाप्त होने पर मित्र राज्यों को संसार में स्थायी शांति स्थापित करने का बहुत अच्छा मौक़ा मिला था। क्रांति के सफल होने पर रूस ज़ारशाही के अत्याचारों से मुक्त हो गया था और उस विशाल देश के अंतर्गत भागों को स्वतंत्र और उन्नतिशील शासन-व्यवस्था पाने का मौक़ा था। जरमनी और आस्ट्रिया की बादशाहतें ख़तम हो गई थीं और वहाँ भी लोकतंत्र स्थापित हो गया था। ब्रिटेन और फ़्रांस स्वतंत्रता और लोकसत्ता के नेता माने जाते थे। अपने राष्ट्रीय आदर्शों का प्रभुत्व जमा कर संसार में शांति का राज्य स्थापित करने का महासमर में मित्र राज्यों की विजय से बढ़कर सुअवसर नहीं हो सकता था।

खेद है कि मित्र राज्यों ने इस सुअवसर को हाथ से खो दिया। जरमनी के अफ़्रीकावाले उपनिवेशों पर और तुर्की तथा मिस्र के स्वेज़ नहर तथा फ़ारस के निकटवर्ती प्रदेशों पर अंग्रेज़ी साम्राज्य हो गया। फ़्रांस ने जरमनी और आस्ट्रिया के पूर्ववर्ती देशों का मनमाना विभाजन किया और जरमनी पर हर्जाने का बहुत भारी जुर्माना किया। उस समय क्लमेंशो फ़्रांस का नेता था। समर के पश्चात् वर्साई की जो संधि हुई उसकी शर्तों में उसका विशेष हाथ था। उसने एक बार कहा था कि वर्साई की संधि शत्रु के साथ लड़ाई क़ायम रखने का एक ढंग मात्र है।

यही हुआ। वर्साई की संधि संसार में शांति स्थापित न कर सकी। संधि के कुछ समय के भीतर ही तुर्की में कमालपाशा और इटली में मुसोलिनी की तानाशाहियाँ क़ायम हुईं; आयरलैंड, अफ़-ग़ानिस्तान और मिस्र देश स्वतंत्र हुए। जापान का मंचूरिया की रेलों पर तो प्रभुत्व सन् १९०५ से था ही। मौक़ा पाकर सन् १९३२ में

उसने चीन से निकाले हुए मंचू राजवंश के उत्तराधिकारी को मंचूरिया का सम्राट बना दिया और इस बड़े प्रदेश को चीन से अलग कर दिया।

राष्ट्र-संघ के उद्देश्य में शांति का महान् आदर्श होते हुए भी उसके संचालन में विजेता शक्तियों को सफलता नहीं मिली। संयुक्त राज्य ने पहले से ही इस राष्ट्र-संघ में सम्मिलित होने से इंकार कर दिया था; मंचूरिया के मामले में चीन से जापान के विरुद्ध आवाज़ उठाने पर राष्ट्र-संघ ने चीन के पक्ष में अपना फ़ैसला दिया, जिस कारण जापान ने राष्ट्रसंघ से इस्तीफ़ा दे दिया। वर्साई की संधि के बाद कुछ समय तक जरमनी में लोकसत्तात्मक शासन चलाने का प्रयत्न किया गया। यह शासन शांतिपूर्ण था और समझौते द्वारा वर्साई के दंड को मित्र राज्यों से हलका कराने के पक्ष में था। परंतु इस शासन को यथेष्ट सफलता न मिली, जिसके परिणाम में हिटलर के नेतृत्व में नाज़ी दल ने सन १९३३ तक जरमनी के शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली।

जरमनी में तानाशाही के प्रारंभ होते ही उसकी संगठित शक्ति को मित्रराज्यों से व्यवहार करने में सफलता मिलने लगी। निःशस्त्रीकरण वर्साई की संधि का एक प्रधान अंश था। सन् १९२७ से इसके लिए सतत उद्योग किया गया, परंतु सशस्त्र शक्तियों के पारस्परिक संदेह ने कोई फ़ैसला न होने दिया। सन् १९२७ तक जरमनी बहुत कुछ निःशस्त्र हो चुका था। इस उद्योग के असफल होने पर जरमनी ने भी सशस्त्र होना प्रारंभ किया। बर्लिन और रोम की तानाशाहियों का मेल हो गया।

इस मेल के परिणाम में हब्श देश की स्वतंत्रता का अपहरण हुआ। संपूर्ण अफ़्रीका में यही देश स्वतंत्र रह गया था। राष्ट्र-संघ द्वारा हब्श देश के पक्ष में उद्योग होते हुए भी इटली ने हब्श पर अधिकार कर लिया। राष्ट्र-संघ इटली को सदस्यता से निकालने तक में सफल नहीं हुआ।

दूसरा परिणाम हुआ स्पेन में तानाशाही की स्थापना। महासमर के कुछ समय पश्चात् (सन् १९३१) स्पेन का सम्राट गद्दी से उतार दिया गया था और वहाँ रूसी ढंग पर प्रजातंत्र स्थापित हो गया था। परंतु जरमनी और इटली के तानाशाह रूसी साम्यवाद के विरुद्ध थे ; इसलिए वहाँ भी तानाशाही स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। गृहयुद्ध में जरमनी और इटली के तानाशाहों ने स्पेन में तानाशाही के पक्ष को गुप्त रीति से बहुत कुछ सहायता दी और अंत में सफलता भी प्राप्त कर ली।

इधर चीन च्यांग कई-शेक नामक तानाशाह के नेतृत्व में बहुत कुछ संगठित हो चुका था। चीन की जापान के विरुद्ध बहिष्कार की नीति ज़ोर पकड़ती रही और सन् १९३७ तक दोनों की लड़ाई शुरू हो गई। यह लड़ाई अब तक (१९४५) चल रही है, यद्यपि चीन का बहुत-कुछ भाग अब जापान के अधिकार में आ गया है।

चीन और जापान की लड़ाई चल ही रही थी कि जरमनी ने वर्साई की संधि के विरुद्ध घोर आंदोलन और संगठन करना प्रारंभ कर दिया। वर्साई की संधि के अनुसार जरमनी और आस्ट्रिया के कुछ भाग मिलाकर चेकोस्लोवाकिया नामक राज्य स्थापित कर दिया गया था। इस राज्य की रक्षा ब्रिटेन और फ्रांस के सहारे ही हो सकती थी। लड़ाई चेकोस्लोवाकिया का बलिदान करके ही रोकी जा सकती थी।

यही किया गया, परंतु दोनों ओर से लड़ाई की तैयारी बढ़ती रही जिससे प्रकट था कि दूसरा महासमर निकट ही है। संसार की शांति फिर से भंग होना है।

जरमनी की शक्ति बढ़ती जा रही थी। चेकोस्लोवाकिया पर अधिकार करने के पहले आस्ट्रिया जरमनी में मिला लिया गया था। अब जरमनी के शासकदल ने पोलैंड के विरुद्ध डैंजिग पर अधिकार करने और उसके पूर्ववर्ती जरमन प्रांत को जरमनी से मिलाने के लिए आंदोलन करना प्रारंभ किया। ब्रिटेन और फ्रांस ने पोलैंड को सहायता देने का वचन दिया और रूस को अपने साथ लेने का प्रयत्न किया। जरमनी के

नाज़ी दल का रूसी साम्यवादियों से घोर विरोध था। परंतु वर्साई की संधि से रूसी शक्ति को भी हानि पहुँची थी। वर्साई का निराकरण करने के उद्देश्य ने जरमनी और रूस के बीच मेल की सूरत पैदा कर दी। जरमनी ने पोलैंड पर आक्रमण कर दिया। वचनबद्ध ब्रिटेन और फ्रांस को जरमनी से युद्ध छेड़ना पड़ा। यों बीसवीं शताब्दी के दूसरे महासमर का सूत्रपात हुआ। पहले रूस, संयुक्त राज्य और जापान महासमर से तटस्थ रहे, परंतु जून १९४१ में जरमनी ने रूस पर आक्रमण कर दिया और दिसंबर १९४१ में जापान ने संयुक्त राज्य और ब्रिटेन से समर छेड़ दिया, यद्यपि रूस के प्रति उसकी तटस्थ नीति रही। यों यह महासमर विश्वव्यापी हो गया। संसार की कोई भी बड़ी शक्ति इसके बाहर न रह सकी।

भविष्य-वाणी करना ऋषियों और महात्माओं का ही काम है। हाँ, इतिहास का मनन करने के बाद वर्तमान युग की प्रगति का अनुमान किया जा सकता है।

लोकतंत्र प्रतिनिधि शासन प्रणाली ने नागरिक के स्वत्वों की रक्षा करते हुए उन्नीसवीं शताब्दी में बहुत उन्नति की। कुछ समय के लिए मानव-समाज के हित साधन का इससे बढ़कर कोई दूसरा मार्ग नहीं दिखाई देता था। बहुतों का अब भी इसी प्रणाली में विश्वास है, परंतु संसार की प्रगति अब नागरिक के स्वत्वों पर नियंत्रण करने की ओर ही दिखाई देती है, यद्यपि यह संभव है कि भविष्य का नियंत्रण उतना पाशविक न हो जितना इस समय है।

योरप की गृह-कलह के कारण योरपीय सभ्यता की विभूतियाँ नष्ट होती दिखाई देती हैं। योरपीय सभ्यता ने संसार को बहुत-कुछ दिया है, परंतु उसने सामाजिक जीवन को बहुत अपव्ययी बना दिया है; जिसके बोझ से दबकर इस सभ्यता के नेता पारस्परिक मार काट में ही लगे हैं।

योरपीय सभ्यता ने सवर्ण जातियों का तिरस्कार करके विश्व-संस्कृति को बहुत हानि पहुँचाई है। योरपीय जातियों ने संसार

के वे भाग भी घेर रक्खे हैं जिनका जलवायु उनके अनुकूल नहीं है, जहाँ बसकर सवर्ण जातियाँ ही उपार्जन का काम कर सकती हैं। संभव है कि योरपीय जातियाँ गृह-कलह के अंतिम परिणाम में सवर्ण जातियों को मानव-समाज की सेवा के पुनीत क्षेत्र में समान भाव से सहयोग देने का अवसर दें। अफ्रीका की श्यामवर्ण जातियों का भविष्य अभी अंधकारमय है। परंतु तुर्की, ईरान और जापान संगठित हो चुके हैं। जापान की चोट खाकर चीन भी संगठित हो रहा है। यदि भारतवर्ष को भी स्वतंत्र और संगठित होने का मौक़ा दिया जाय तो एशिया को पुरानी दुनिया में उसी सांस्कृतिक नेतृत्व के प्राप्त करने की संभावना है, जो प्राचीन काल में उसके हिस्से में थी।

संयुक्त राज्य नई दुनिया का नेता है। पहले महासमर से ही संसार का आर्थिक नेतृत्व उसके हाथ में आ लगा है। दूसरे महासमर में योरप के निर्बल होने पर संयुक्त राज्य का आर्थिक प्रभुत्व और भी दृढ़ होने की संभावना है। चीन और भारत के कुछ नेताओं की धारणा और आशा है कि संयुक्त राज्य सवर्ण जातियों को अपना उद्धार करने में सहायता देगा। संयुक्त राज्य में आदर्शवादियों की कमी नहीं है, परंतु वहाँ की सत्ता डालरवादियों के ही हाथ में है। इस महासमर के परिणाम में मित्र राष्ट्रों की विजय होने पर यह संभव है कि संयुक्त राज्य की आर्थिक सत्ता विश्वव्यापी हो जाय और दलित सवर्ण जातियों के राजनैतिक उद्धार का कोई मार्ग निकल सके। इस शताब्दी में ब्रिटेन को दूसरा महासमर लड़ना पड़ रहा है जिसके मूल में भारत पर उसकी सत्ता है। इसलिए यथेष्ट संख्या में अंग्रेज़ जनता भी भारत को स्वतंत्र करने के पक्ष में हो गई है। फिर मित्र राष्ट्रों की विजय के परिणाम में रूस और चीन की सत्ता का एशिया में परिपुष्ट होना भी संभव है। दलित सवर्ण जातियाँ इनसे भी सहानुभूति की आशा कर सकती हैं। परंतु अंतिम निरीक्षण में सवर्ण जातियों का उद्धार उन्हीं के हाथ में है, उन्हीं के संगठन पर अवलंबित है।

सवर्ण जातियों के जाग्रत होकर स्वतंत्र होने पर ही उस अंतर्राष्ट्रीय अशांति का अंत हो सकेगा जो इन जातियों पर अधिकार रखने के लिए गोरी जातियों के पारस्परिक संघर्ष के कारण हैं। परतंत्र सवर्ण जातियों में प्रमुख स्थान भारतीय जाति का है। इसलिए भारत के स्वतंत्र होने पर ही अंतर्राष्ट्रीय शांति की आशा की जा सकती है।

भारत की स्वतंत्रता अंतर्राष्ट्रीय शांति के नाते इसलिए भी आवश्यक है कि शांति और अहिंसा का शक्तिशाली संदेश सर्वप्रथम भारतभूमि से ही महात्मा बुद्ध द्वारा दिया गया था। इस संदेश के विश्वव्यापक होने पर भी मनुष्य की पाशविक प्रवृत्तियों के कारण संसार में अशांति बनी रही। स्वयं भारतीय ही शांति और अहिंसा के संदेश को कायरता और अकर्मण्यता का आदेश समझकर अपनी स्वतंत्रता खो बैठे। समय के फेर से योरपीय सभ्यता का भारतीय आत्मा से संघर्ष हुआ। भारतीय आत्मा के जाग्रत होने पर रवींद्र की कविवाणी द्वारा मनुष्यता का संदेश आधुनिक संसार को मिला। फिर उसका व्यावहारिक रूप महात्मा गांधी ने संसार के सामने रक्खा। अंतर्राष्ट्रीय शांति के लिए भारत का स्वतंत्र होना भी आवश्यक है। यह स्वतंत्रता पाशविक बल प्रदर्शन से स्थायी न रह सकेगी। अहिंसा और सत्य का आत्मिक बल-प्रदर्शन ही इस स्वतंत्रता का मौलिक साधन होगा।

अंतर्राष्ट्रीय शांति के अतिरिक्त प्रत्येक राष्ट्र की आंतरिक शांति भी सभ्यता के विकास के लिए आवश्यक है। यह तभी हो सकता है, जब देश के भीतर किसी भी दल विशेष को दूसरे दल पर अत्याचार करने का मौक़ा न दिया जाय। साम्यवाद के योरपीय प्रकरण का भी यही उद्देश्य है। परंतु हिंसात्मक होने के कारण इस साम्यवाद ने प्रत्येक देश के आंतरिक संघर्ष को बढ़ा ही दिया है। महात्मा गांधी जिस साम्यवाद का आदर्श संसार के सामने रखते हैं, उसमें सात्विकता का पुट है। वह अहिंसात्मक होने के कारण पूँजीपतियों

और श्रमजीवियों को पारस्परिक सौहार्द्र की डोर से बाँधता है, और भेद-भाव को नष्ट करता है।

वर्तमान की हिंसात्मक प्रगति देखते हुए सत्याग्रह के बहुत से हामी भी हताश हो जाते हैं और महात्माजी के संदेश को उनका सुखस्वप्न ही समझते हैं। हो सकता है कि गांधीजी का संदेश भी अन्य पुनीत संदेशों की भाँति मानव-संघर्ष में विलीन हो जाय और कालांतर में मनुष्य जाति भी इस पृथ्वी पर से उसी भाँति विनष्ट हो जाय जिस प्रकार वे जीव-जातियाँ नष्ट हो चुकी हैं, जिनके अस्थि-पंजर हमें अजायबघरों में दिखाई देते हैं। परंतु यह भी संभव है कि हिंसा की पराकाष्ठा होने पर विजेता जातियों को उसी कष्ट तथा अशांति का सामना करना पड़े जो पराजित जातियों के हिस्से में है, या कल की विजेता जाति दूसरे कल की पराजित जाति हो जाय, जिस कारण विजेता तथा पराजित, दोनों हिंसात्मक प्रवृत्ति की विफलता का अनुभव करने लगें। संभव है कि राष्ट्रों को उसी सात्विक क्षोभ का अनुभव हो जो अशोक को विनाशकारी कलिंग युद्ध के बाद हुआ था। ऐसे समय स्वतंत्र भूमि के उपगुप्त का उपदेश ही अशोक की सांत्वना कर सका था। उसी प्रकार इस हिंसात्मक काल में भी हिंसात्मक प्रवृत्ति से क्लेशित जातियों को अहिंसा का संदेश कायर और परतंत्र भारत के नेता से नहीं मिल सकता। महात्मा गांधी के संदेश में ही संसार की भावी शांति का मूल मंत्र है। परंतु भारत के स्वतंत्र होने पर ही इस संदेश का प्रभाव अन्य देशों और जातियों पर हो सकेगा। क्या होगा, यह लेखक की सीमित दृष्टि के बाहर है।